* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,८५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण, वि॰ सं॰ २०४६, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१५, अगस्त १९८९ ई॰

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य भारतमें २.०० रु॰ विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य (डाक-व्ययसहित) भारतमें ४४.००रु॰ विदेशमें ६ पौंड अथवा १० डालर

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये जगदीशप्रसाद जालानद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित
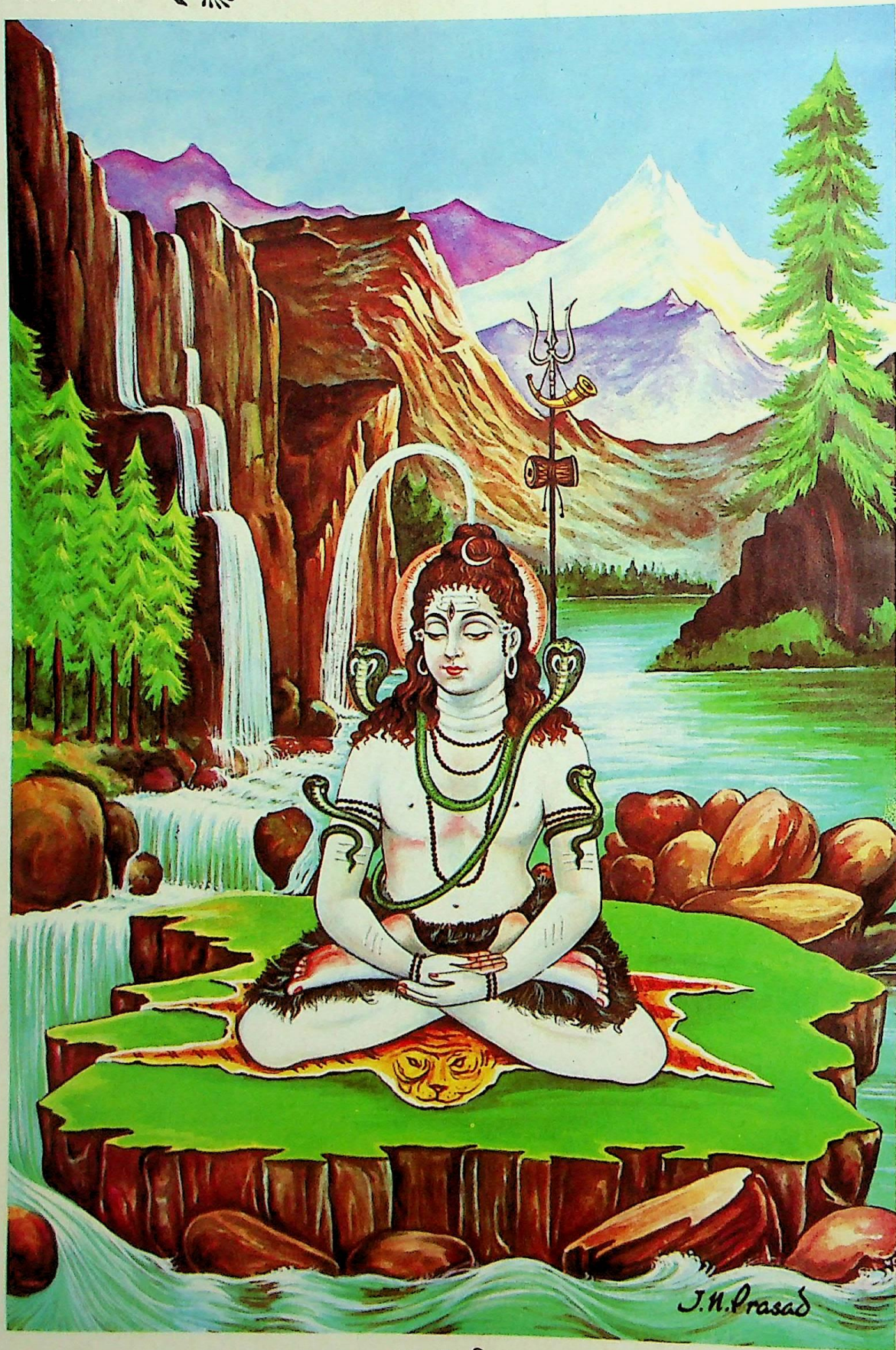
भगवान् शिव

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
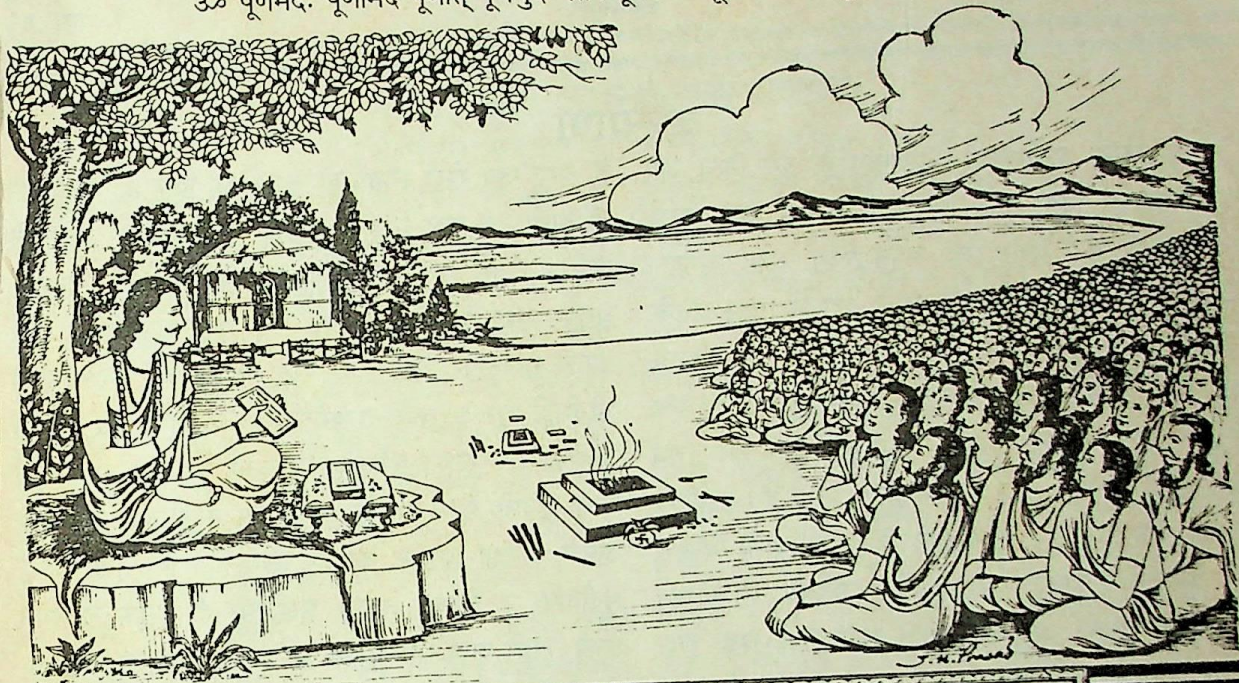
कल्याण

यशः शिवं सुश्रव आर्यसङ्गमे यदृच्छया चोपशृणोति ते सकृत्।
कथं गुणज्ञो विरमेद्विना पशुं श्रीर्यत्प्रवव्रे गुणसंग्रहेच्छया ॥

वर्ष ६३ गोरखपुर, सौर श्रावण, वि॰ सं॰ २०४६, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१५, अगस्त १९८९ ई॰ संख्या ५ पूर्ण संख्या ७५०

संसारदुःखगहनाज्जगदीश रक्ष

हे चन्द्रचूड मदनान्तक शूलपाणे स्थाणो गिरीश गिरिजेश महेश शम्भो।
भूतेश भीतभयसूदन मामनाथं संसारदुःखगहनाज्जगदीश रक्ष ॥
कैलासशैलविनिवास वृषाकपे हे मृत्युंजय त्रिनयन त्रिजगन्निवास।
नारायणप्रिय मदापह शक्तिनाथ संसारदुःखगहनाज्जगदीश रक्ष ॥
विश्वेश विश्वभयनाशित विश्वरूप विश्वात्मक त्रिभुवनैकगुणाभिवेश।
हे विश्वबन्धुकरुणामय दीनबन्धो संसारदुःखगहनाज्जगदीश रक्ष ॥

हे कामदेवको भस्म करनेवाले त्रिशूलपाणि! सिरपर चन्द्रमाको धारण करनेवाले सभीके ईश्वर (महेश)! कल्याणके उत्पत्तिस्थान, कूटस्थस्वरूप (स्थाणु)! प्रमथगणोंके स्वामी तथा भयभीत भक्तोंके भयको दूर करनेवाले हे गिरिजापति कैलासनाथ जगदीश्वर! आप संसारके गहन दुःखसे मुझ अनाथकी रक्षा कीजिये। हे कैलासपर्वतपर निवास करनेवाले शिव-विष्णुके संयुक्तरूप (वृषाकपि)! मृत्युको जीतनेवाले त्रिनेत्रधारी! तीनों लोकोंमें निवास करनेवाले एवं तीनों लोकोंके निवासभूत भगवान् विष्णुके अत्यन्त प्रिय सुहृद! गर्व-भञ्जन करनेवाले एवं पार्वतीके स्वामी हे जगदीश्वर! आप संसारके गहन दुःखसे मुझ अनाथकी रक्षा कीजिये। हे संसारके स्वामी! एवं संसारके भयको नष्ट करनेवाले, विश्वस्वरूप, विश्वात्मा, तीनों लोकोंके आश्रय और समस्त गुणोंके एकमात्र निवासस्थान, संसारके बन्धुस्वरूप, कृपाविग्रह एवं दीन-दुःखियोंके सदा सहायक जगदीश्वर! आप संसारके गहन दुःखसे मुझ अनाथकी रक्षा कीजिये।

कल्याण

यह संसार भगवान्‌की क्रीडाभूमि है, इसे नित्य और स्थिर समझकर इसमें फँसो नहीं। खेलते रहो, खूब खेलो, परंतु चित्तको सदा स्थिर रखो अपने नित्य, सत्य, सनातन और कभी न बिछुड़नेवाले प्यारे प्रभुके चरणोंमें। इस खेलके साथी पति-पत्नी, पुत्र-कन्या, मित्र-बन्धु आदि सब खेलके लिये ही मिले हैं। इनका सम्बन्ध खेल-भरका ही है। जब यह खेल खतम हो जायगा और दूसरा खेल शुरू होगा, तब दूसरे साथी मिलेंगे। यही सदासे होता आया है। इसलिये खेलके आज मिले हुए साथियोंको ही नित्यके संगी मानकर इनमें आसक्त न होओ, नहीं तो खेल छोड़कर नये खेलमें जाते समय तुमको और इन तुम्हारे साथियोंको बड़ा क्लेश होगा। जहाँ और जब वह खेलका स्वामी भेजेगा, तब वहाँ जाना तो पड़ेगा ही, इस खेलमें और इस खेलके साथियोंमें मन फँसा रहेगा तो रोते हुए जाओगे।

तुम्हारा यह भ्रम ही है जो इस वर्तमान घर-द्वार, पुत्र-कन्या, भाई-बहन, माता-पिता, पति-पत्नीको अपने मानते हो। इस जन्मके पहले जन्ममें भी तुम कहीं थे। वहाँ भी तुम्हारे घर-द्वार, सगे-सम्बन्धी सब थे, कभी पशु, कभी पक्षी, कभी देवता, कभी राक्षस और कभी मनुष्य—न मालूम कितने रूपोंमें तुम संसारमें खेले हो, परंतु वे पुराने—पहले जन्मोंके घर-द्वार, साथी-संगी, स्वजन- आत्मीय अब कहाँ हैं, उन्हें जानते भी हो ? कभी उनके लिये चिन्ता भी करते हो ? तुम जिनके बहुत अपने थे, बड़े प्यारे थे, उनको धोखा देकर खेलके बीचमें ही उन्हें छोड़ आये, वे रोते ही रह गये और अब तुम उन्हें भूल ही गये हो ! उस समय तुम भी आजकी तरह ही उन्हें प्यार करते थे, उन्हें छोड़नेमें तुम्हें भी कष्ट हुआ था, परंतु जैसे आज तुम उन्हें भूल गये हो, वैसे ही वे भी नये खेलमें लगकर, नये घर-द्वार, संगी-साथी पाकर तुम्हें भूल गये होंगे, यही होता है। फिर तुम इस भ्रममें क्यों पड़े हो कि इस संसारके घर-द्वार, इसके सगे-सम्बन्धी, यह शरीर सब मेरे हैं ?

बच्चे खेलते हैं, मिट्टीके घर बनाते हैं, तेरा-मेरा करते हैं, जबतक खेलते हैं, तबतक तेरे-मेरेके लिये लड़ते-झगड़ते भी हैं, परंतु जब खेल समाप्त होनेका समय होता है, तब अपने ही हाथों उन धूल-मिट्टीके घरोंको ढहाकर हँसते हुए चले जाते हैं। तुम सयाने लोग धूल-मिट्टीके—काँच- पत्थरके घरोंपर बच्चोंको लड़ते देखकर उन्हें मूर्ख समझते हो और उनकी मूर्खतापर हँसते हो—परंतु तुम भी वही करते हो, वे भी मिट्टी-धूलके, काँच-पत्थरोंके लिये लड़ते हैं और तुम भी उन्हींके लिये लड़ते-झगड़ते हो। उनके घर छोटे और थोड़ी देरके खेलके लिये होते हैं, तुम्हारे घर उनसे कुछ बड़े और उनकी अपेक्षा अधिक कालके लिये होते हैं। तुम्हें उनकी मूर्खतापर न हँसकर अपनी मूर्खतापर ही हँसना चाहिये। उनसे तुम्हारे अंदर एक मूर्खता अधिक है, वह यह कि वे तो खेलते समय ही तेरे-मेरेका आरोप करके लड़ते हैं, खेल खतम करनेके समय सबको ढहाकर हँसते हुए घर चले जाते हैं। परंतु तुम तो खेल खतम होनेपर भी रोते हुए ही जाते हो और इसीलिये अपने वास्तविक घर (परमात्मामें) तुम नहीं पहुँच सकते। यदि तुम भी इन बच्चोंकी तरह खेलके समय तेरे-मेरेका आरोप करके—(वस्तुतः अपना मानकर नहीं) मजेमें खेलो और खेल समाप्त होनेपर उसे खेल ही समझकर अपने मनसे सबको ढहाकर प्रसन्नतापूर्वक वास्तविक घरकी ओर चल दो तो सीधे घर पहुँच जाओ और फिर वहाँसे लौटनेका अवसर ही न आवे, परंतु खेद तो यही है कि तुमने इस खेल-घरको असली घर मान लिया है। मान लेनेमात्रसे यह घर और इसमें रहनेवाले तुम्हारे ही-जैसे खेलनेको आये हुए लोग, जिनसे तुमने नाना प्रकारके नाते जोड़ लिये हैं, तुम्हारे होते भी नहीं, इन्हें अपना समझकर इनसे चिपटे रहना चाहते हो, परंतु अलग किये जानेसे तुम्हें रोना-चिल्लाना पड़ता है। तुम्हारा स्वभाव ही हो गया है हरेक खेलके संगी-साथियोंसे इसी प्रकार चिपटे रहना, दो घड़ीके लिये जहाँ भी जाते हो, वहीं ममता फैलाकर बैठ जाते हो। इसीसे हरेक खेलमें तुम्हें रोना ही पड़ता है। न मालूम कितने लंबे समयसे तुम इसी प्रकार रो रहे हो। और न समझोगे तो न जाने कबतक रोते रहोगे। अच्छा हो, यदि समझ जाओ और इस रोने-चिल्लानेसे—इस सदाकी साँसतसे तुम्हारा पीछा छूट जाय।'**शिव**'

संसारका वास्तविक स्वरूप

(ब्रह्मलीन परम पूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

सम्पूर्ण व्यावहारिक प्रपञ्च स्वप्नवत् है, फिर भी अबाधित चिरकालानुवृत्त होनेके कारण उसमें दृढ़ प्रत्यय होता है, अचित् बाधित होनेसे स्वप्नमें इतना दृढ़ प्रत्यय नहीं होता। कभी किसी दीर्घ स्वप्नमें अभिनिवेशाधिक्यसे जागनेपर भय-कम्पादि होता रहता है, सहसा उसकी सत्तामें अविश्वास नहीं होता। प्राणियों-के भोगारम्भक शुभाशुभ अदृष्ट भी कुछ प्रत्यय-दार्ढ्यमें हेतु हो जाते हैं। यह बात अलग है कि सब स्वप्न एक-से नहीं होते, उनकी विचित्रता स्पष्ट ही है। भ्रममें कोई भी बात असम्भव नहीं है। समुद्रमें बड़वानलके समान जलमें अग्नि, आकाशमें नगर, शिलामें पङ्कज, शिलाके भीतर सृष्टि, शिलाओंका उड़ना आदि भी सम्भव होते हैं। यन्त्रपुमान्के समान अचेतनका भी कर्म करना दृष्ट है। स्वप्ननिमग्नबुद्धि प्राणी स्वप्नकी स्थिरता और सत्यताका जैसे अनुभव करता है, वैसे ही सर्गनिमग्नबुद्धि प्राणी सर्गको सत्य और स्थिर देखता है। स्वप्नसे स्वप्नान्तरगमनके समान ही सर्गभ्रमण भी होता है।

इसी सम्बन्धमें 'योगवासिष्ठ'का भिक्षूपाख्यान है। समाधि-सम्पन्न भिक्षुके शुद्ध चित्तके सङ्कल्पसे लीलामात्रसे एक जीवट नामक सामान्य मनुष्य उत्पन्न हुआ। वही स्वप्नमें अपने-आपको वेदपाठी ब्राह्मण देखने लगा। ब्राह्मणने भी निद्रामें पड़कर स्वप्नमें अपनेको सामन्त देखा। सामन्तने स्वप्नमें अपनेको सम्राट् देखा। सम्राट् स्वप्नमें अप्सरा हो गये। अप्सरा भी स्वप्नमें मृगी बन गयी। मृगी स्वप्नमें लता बन गयी। लता कटकर भ्रमर बन गयी और पद्मिनीमें आसक्त होकर मदान्ध गजद्वारा कमलिनीके साथ ही वह भी नष्ट होकर मदान्ध गज बन गया। गज भी मरकर भ्रमरोंको देखता-देखता भ्रमर हो गया और फिर गजपादसे चूर्णित हो गया। हंसकी भावनासे वही हंस हो गया। हंस मरकर सारस हो गया, सारसने रुद्रको देखकर रुद्र होना चाहा और रुद्र हो गया (यहाँ रुद्रका अर्थ रुद्र-सा रूप-प्राप्त रुद्रगण है)। रुद्र होते ही जब सर्वज्ञता आ गयी, तब अपने अनेकानेक जन्मों और स्वप्नोंकी सब कथा उसकी स्मृतिमें आयी। अहो ! मिथ्याभूत ही जगन्मोहिनी माया मरुभूमिमें यद्यपि जलके समान ही है, तथापि इसमें कितनी विचित्रता है। जो मैं प्रथम केवल चिन्मात्र था, वह चित्त बना। गगनादि प्रपञ्चकी भावना करके जीव बना। फिर भिक्षु, फिर स्वप्नसे स्वप्नमें भटकते हुए कहाँसे कहाँ गया। यह सब भावना और संकल्पके अभ्यासका ही परिणाम है। देहादिप्राप्तिमें भी सङ्ग, संकल्प, भावना ही निमित्त होती है। यह भावना आदि विचार करनेपर कुछ भी नहीं ठहरते। इस सम्पूर्ण संसारभ्रमका एकमात्र असंवेदन ही मार्जन है। यह सब विचारकर रुद्रने शयान भिक्षुको जगाया। जागकर तत्त्वज्ञ भिक्षुने विचित्र स्वप्नपरम्पराका स्मरण किया। पुनः दोनों मिलकर जीवटके पास गये। उसे प्रबुद्ध किया। ये सब पृथक्-पृथक् सर्गके ही आकाशमें थे। फिर उन तीनोंने विप्रके संसारमें जाकर उसे जगाया। इस तरह सामन्त, राजा, सुराङ्गना आदि पूर्वोक्त सभी मिलकर अन्तमें रुद्रभावको प्राप्त हुए। सभी निरावरण चित्स्वरूप होकर अवेदनात्मक मोक्षको प्राप्त हुए।

संवेदन ही सर्ग और बन्ध है, अवेदन (संसारका भान न होना) ही मोक्ष है। सर्वसाधारणके संकल्पमें अभ्यासाभावसे शक्ति नहीं होती, तथापि एकाग्रतासे दृढ़ संकल्प करनेवाले योगीलोग एक क्षणमें ही अनेक देहोंका निर्माण कर लेते हैं। जैसे क्षीरसागरमें रहते हुए शेषशायी भगवान् अन्यत्र सहस्रों अवतारकार्य करते हैं, वैसे ही सिद्धसंकल्प योगियोंके संकल्पानुसार ही सृष्टिपरम्परा चल पड़ती है। दूसरे प्राणी प्राक्तन शुभाशुभ कर्मानुसारी दृढ़ संकल्पके अनुसार संसारको प्राप्त होते हैं। इस तरह कर्मानुसार सभी जीव एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें भटक रहे हैं। शान्त, निर्विकार ब्रह्मभावका बोध होनेपर प्राणरोध, इन्द्रियरोध एवं दृश्य-प्रपञ्चके अस्तंगमनके बिना भी सर्वदा सर्वत्र शान्त, शुद्ध, मौन ब्रह्म उपलब्ध होता है। प्रयत्नानपेक्ष इसी अवस्थाको सौषुप्त मौन कहा गया है। इसमें यथास्थित वस्तुके बोधमात्रसे यथास्थित अनाद्यनन्त उदयास्तवर्जित, आकाशसे भी परम सूक्ष्म, शिलासे भी अनन्त घन, निरवकाश, ठोस, शुद्ध, अमल ब्रह्म अपने-आपमें ही स्थित रहता है।

वासनामात्र ही चित्त है। चित्तके अभावमें ही परमपद है। रज्जु-सर्पभ्रमके समान इस संसृतिका विवेकमात्रसे बाध हो

जाता है। एकार्थाभ्यास, प्राणरोध, मनोनाश—ये सब संसृति-समाप्तिमें कारण हैं। प्राणके शान्त होनेपर मन शान्त होता है, मनःस्पन्दके शान्त होनेपर प्राणस्पन्द भी शान्त होता है। ये दोनों आपसमें रथ-रथीके समान हैं। एकके अभावमें दोनोंका ही अभाव हो जाता है। अनन्तात्मतत्त्वका विचार करके उसीका दृढ़ाभ्यास करनेसे मनको ब्रह्माकार बनाना चाहिये। अज्ञान और ज्ञान दोनोंका ही बाध होनेसे अधिष्ठानतत्त्व ही रह जाता है। सम्पूर्ण द्वैत अविद्यामात्र है। अविद्या भी चित्तमात्र है। चित्त भी स्वभासक अधिष्ठानमात्र है। विचारसे क्षणमें जीव अजीव, चित्त अचित्त हो जाता है। मृगतृष्णा-जलके समान ही मन और अहन्तादि संसार उपलब्ध होता है। सब असत् ही है। किञ्चिन्मात्र विचारसे इसका बाध हो जाता है।

माँके प्रति—समर्पण

(श्रीराधाकृष्ण श्रोत्रिय, 'साँवरा')

हो दयार्द्र मंगलमयि माता, तेरा हृदय विराट।
मैं तो बिन पंखोंका पंछी, देख रहा हूँ बाट॥
ज्यों गो-वत्स क्षुधासे आतुर, कातर रहा पुकार।
कृपा करो, दर्शन दो जननी, लो अविलम्ब उबार॥
मम सर्वस परवशकी निधि माँ! मैं मूरख अज्ञान।
कर स्वीकार समर्पण मेरा, कीजै भक्ति प्रदान॥
तुम हो निराश्रितोंकी आश्रय, मम एकमात्र अवलम्ब।
मुझसे अधम अशक्त दीनको, अपना लो अब अम्ब॥
सब जीवोंका दुख हरती हो, जो तेरे गुण गाता॥
मेरा भी दुख-दारुण हर लो, हे जगदम्बे माता॥
साधनहीन, दीन अति दुर्बल, जगसे हुआ निराश।
आया हार द्वार पै तेरे, टिकी तुम्हींपर आश॥
जगजननी! जगमें जनिये नहिं, मुझ-सा पूत कुपूत।
जन्मदात्रि माँको बिसराया ऐसा विषयी धूत॥
मैं पामर मायामें तन्द्रित, तुम हो परम उदार।
निज स्वभाववश करुण-दृष्टि हो, देखो नयन उघार॥
मात कुमात सुनी नहिं जगमें, पूत कुपूत अनेकन।
उनमें मैं अति अधम कुनामी, कैसे करूँ विवेचन॥
स्नेहमयी, ममतामयि, माँ! तू कृपामयी कल्यानी।
आया शरण चरणमें तेरे, भवसे तार भवानी॥
तेरी ममताकी क्या समता, अनुकम्पा अब करिये।
करुणाकरि करुणामयि! मेरे त्रिविध ताप सब हरिये॥
शक्ति-भक्तिसे हीन दीन यह, जो चाहो सो कीजै।
'साँवर' कुटिल कुपुत्र आपका, निज चरणन रख लीजै॥

अवतार और अधिकारी महापुरुषोंका अलौकिक प्रभाव

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

(गीता ४।७)

भगवान् कहते हैं—'हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ।'

इसपर कितने ही भाई हमसे पूछा करते हैं कि 'जब-जब धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि होती है, तब-तब भगवान् यदि अवतार लेते हैं तो इस समय तो धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि विशेषरूपसे हो रही है, फिर भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते ? क्योंकि इस समय धर्म-पालन करनेवाले लोग संसारमें बहुत ही कम हैं, यदि कहीं कोई धर्म-पालन करता है तो वह आंशिकरूपसे ही करता है एवं यज्ञ, तप, तीर्थ-व्रत, उपवास, दुखी प्राणियोंकी सेवा, बड़ोंका आदर-सत्कार, शौचाचार-सदाचारका पालन आदि तो बहुत ही कम देखनेमें आते हैं। और जो देखनेमें आते हैं, उनमें भी सूक्ष्मतासे विचार करके देखनेपर कहीं-कहीं तो शौचाचार-सदाचाररूप धर्मके नामपर दम्भ ही दृष्टिगोचर होता है। यह तो धर्म-हानिकी बात हुई। इसके सिवा, दूसरी ओर पापाचारकी विशेषरूपसे वृद्धि हो रही है। चोरी, झूठ, कपट, बेईमानी, घूसखोरी आदि दिन-पर-दिन बढ़ रहे हैं। चोरबाजारी करना, इनकम टैक्स और सेल्स टैक्सकी चोरी करना, झूठे बहीखाते बनाना तो मामूली-सी बात हो रही है, इन सबको तो बहुत-से लोग पाप ही नहीं समझते। अंडे और मांस खाने तथा मदिरा पीनेसे शास्त्रोंमें बड़ा भारी पाप माना गया है, किंतु इनको भी बहुत-से लोग व्यवहारमें लाने लगे हैं। कोई औषधके नामपर, कोई होटलमें जाकर और कोई भोग-कामनाकी पूर्तिके लिये इनको व्यवहारमें लाने लगे हैं और उसमें पाप भी नहीं समझते। कई एक पुरुष तो परस्त्री-गमनको भी पाप नहीं मानते। उनमें कितने ही तो छिपकर और कितने ही प्रकटरूपमें यह दुराचार करते हैं। बहुत-से लोग सट्टा-फाटका और जुआ खेलते हैं, जिनके सम्बन्धमें शास्त्रकी घोषणा है कि ये देश और राष्ट्रके लिये महान् हानिकारक हैं। मांस और चमड़ेके लिये गौओंकी हिंसा बहुत अधिक मात्रामें हो रही है, क्योंकि चमड़ा और सूखा मांस विदेशोंमें अत्यधिक परिमाणमें भेजा जाता है। मच्छर, खटमल और टिड्डी आदि क्षुद्र प्राणियोंकी हिंसाको तो बहुत-से लोग हिंसा ही नहीं समझते। ऐसी परिस्थितिमें भगवान् क्यों नहीं अवतार लेते ?'

इसके उत्तरमें हम यही कहते हैं कि भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते—इसे तो भगवान् ही जानें, इसका निर्णय करनेकी सामर्थ्य हममें नहीं है। फिर भी विचार करनेसे यह अनुमान होता है कि जब युगधर्मके अनुसार अधिक मात्रामें पाप बढ़ जाता है, तभी भगवान् अवतार लिया करते हैं। सत्ययुगमें धर्मके चार चरण रहते हैं, त्रेतायुगमें तीन, द्वापरमें दो और कलियुगमें एक ही चरण रह जाता है (महा॰ वन॰ अ॰ १४९)। जब सत्ययुगमें धर्मका ह्रास होने लगा, तब भगवान्ने श्रीनृसिंह आदि रूपोंमें प्रकट हो हिरण्यकशिपु आदि दुष्टोंका संहार करके धर्मकी स्थापना की। त्रेतायुगके अन्तमें जब राक्षसोंने ऋषि-मुनियोंको मारकर उनकी हड्डियोंका ढेर लगा दिया, तब भगवान्ने श्रीरामरूपमें प्रकट हो खर-दूषण, त्रिशिरा, कुम्भकर्ण, मेघनाद, रावण आदि राक्षसोंमेंसे, किसीका स्वयं वध करके और किसीका दूसरेके द्वारा वध करवाकर धर्मकी स्थापना की, जिसके कारण आज भी संसारमें 'रामराज्य'की महिमा गायी जाती है। द्वापरयुगके अन्तमें जब दुष्टोंके द्वारा घोर अत्याचार होने लगा, तब भगवान्ने श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हो पूतना, वत्सासुर, बकासुर, अघासुर, धेनुकासुर, प्रलम्बासुर, अरिष्टासुर, कंस, जरासंध, कालयवन, शिशुपाल, दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि, जयद्रथ आदि दुष्टोंमेंसे किन्हींका स्वयं संहार करके और किन्हींका दूसरोंके द्वारा संहार करवाकर तथा महाराज युधिष्ठिरको राज्य दिलाकर धर्मकी स्थापना की।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि जब-जब युग-धर्मके लक्षणोंकी अपेक्षा पाप अधिक बढ़ जाता है, तब-तब भगवान् प्रायः युगके अन्तमें अवतार लेते हैं। जब सत्ययुगमें धर्म-पालनके चार चरणोंमें कमी आयी, त्रेतामें उसके तीन चरणोंमें कमी आ गयी और द्वापरयुगमें दो चरणोंमें भी कमी आ गयी, तब भगवान्को अवतार लेना पड़ा। अब कलियुगमें धर्मका एक ही चरण रह गया है, इसका भी जब बिलकुल

ह्रास हो जायगा, तब कलियुगके अन्तमें भगवान् कल्किरूपमें अवतार लेंगे—ऐसी बात श्रीमद्भागवतमें कही गयी है (देखिये स्कन्ध १२, अध्याय २, श्लोक १८)।

घोर कलियुगका वर्णन करते हुए गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने अपने रामचरितमानसमें लिखा है—

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥
जो कह झूँठ मसखरी जाना। कलि जुग सोइ गुनवंत बखाना॥
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलि जुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥
जाकें नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥
असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥

'कलियुगमें न वर्णधर्म रहता है, न चारों आश्रम रहते हैं। सभी स्त्री-पुरुष वेदके विरोधमें लगे रहते हैं। ब्राह्मण वेदोंको बेचनेवाले और राजा प्रजाका शोषण करनेवाले होते हैं। वेदकी आज्ञा कोई नहीं मानता। जिसको जो अच्छा लग जाय, वही मार्ग है। जो डींग मारता है, वही पण्डित है। जो मिथ्या आरम्भ करता (आडम्बर रचता) है और जो दम्भमें रत है, उसीको कलियुगमें सब कोई संत कहते हैं। जो जिस किसी प्रकारसे दूसरेका धन हरण कर ले, वही बुद्धिमान् है। जो दम्भ करता है, वही बड़ा आचारी है। जो झूठ बोलता है और हँसी-दिल्लगी करना जानता है, कलियुगमें वही गुणवान् कहा जाता है। जो आचारहीन है और वेदमार्गको छोड़े हुए है, कलियुगमें वही ज्ञानी और वही वैराग्यवान् है। जिसके बड़े-बड़े नख और लम्बी-लम्बी जटाएँ हैं, वही कलियुगमें प्रसिद्ध तपस्वी है। जो अमङ्गल वेष और अमङ्गल भूषण धारण करते हैं और भक्ष्य-अभक्ष्य (खाने योग्य और न खाने योग्य) सब कुछ खा लेते हैं, वे ही योगी हैं, वे ही सिद्ध हैं और वे ही मनुष्य कलियुगमें पूज्य हैं।'

इस समय भी इस प्रकारके अधर्मका सूत्रपात तो होने लगा है, किंतु अभी धर्मका सर्वथा ह्रास नहीं हुआ है।

आजकल दम्भ और पाखण्ड बढ़ता जा रहा है। दम्भी लोग धर्मके नामपर भोले-भाले नर-नारियोंको अपने चंगुलमें फँसा लेते हैं। कई स्त्रियाँ भी अपनेको ज्ञानी, महात्मा, योगी और ईश्वरकी शक्ति घोषित करती हैं तथा उनके अनुयायी लोग भी कहते हैं कि ये साक्षात् ईश्वरकी शक्ति हैं, ईश्वर इनमें प्रकट हुए हैं, ईश्वरने नारीके रूपमें अवतार लिया है। इस प्रकारका भ्रम फैलाकर वे स्त्रियाँ अपने मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाके लिये अपनेको पुजवाती हैं तथा लोगोंकी धन-सम्पत्तिका अपहरण करती हैं। कहीं-कहीं गृहस्थ और संन्यास-आश्रममें स्थित पुरुष भी दम्भ-पाखण्ड करते हैं। कोई तो अपनेको योगिराज कहते हैं, कोई ज्ञानी-महात्मा नामसे अपनेको घोषित करते हैं, कोई-कोई अपनेको अधिकारी (कारक) महापुरुष कहते हैं एवं कोई-कोई तो अपनेको ईश्वरका अवतार कहते हैं। यों कहकर वे अपने फोटो और पैरोंको पुजवाते, अपना नाम जपवाते और अपने उच्छिष्टको महाप्रसादके नामपर वितीर्ण करते हैं। इस प्रकार भोले-भाले पुरुषों और स्त्रियोंको धोखा देकर उनके सतीत्व और धन-सम्पत्तिका अपहरण करते हैं। जब यह दम्भ-पाखण्ड अतिमात्रामें बढ़ जाता है, धर्मका अत्यन्त ह्रास होकर पापोंकी वृद्धि हो जाती है, तब भगवान् अवतार लेते हैं। हमारी समझमें तो अभी अवतार लेनेका समय नहीं आया है, इसलिये कोई दम्भी अपनेको अवतार या अधिकारी (कारक) महापुरुष घोषित करे तो उसके भुलावेमें आकर अपने धर्म और धन-सम्पत्तिका नाश नहीं करना चाहिये।

वास्तवमें ईश्वरके अवतारके स्वरूप, जन्म, उद्देश्य, प्रभाव, गुण, कर्म और स्वभाव दिव्य, अलौकिक और अत्यन्त विलक्षण होते हैं। उनके श्रीविग्रहकी धातु चेतन होती है। उनका शरीर दीखनेमें मनुष्य-जैसा होनेपर भी अतिशय विलक्षण होता है, वह रोग-शोक-मोह और दोषोंसे रहित, अलौकिक एवं दिव्य होता है। उनका जन्म मनुष्योंकी भाँति नहीं होता। गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(४।६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

यहाँ **'अजोऽपि सन्'** कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं जन्म लेता-सा प्रतीत होता हूँ, वास्तवमें जन्म नहीं लेता। श्रीमद्भागवतमें वर्णन है कि माता देवकीके सामने भगवान् चतुर्भुजरूपमें ही प्रकट हुए थे। उनके उस अलौकिक रूपको देखकर माता देवकीने, कंस उन्हें तंग न

करे, इसलिये उनसे यह प्रार्थना की—

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्॥

(१०।३।३०)

'विश्वात्मन्! आपका यह रूप अलौकिक है। आप शङ्ख, चक्र, गदा और कमलकी शोभासे युक्त अपने इस चतुर्भुज रूपको छिपा लीजिये।'

तब भगवान्—

पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः॥

(श्रीमद्भा० १०।३।४६)

'माता-पिताके देखते-देखते अपनी मायासे तत्काल एक साधारण बालक-से हो गये।'

भगवान्ने वहाँ वसुदेव-देवकीसे कहा कि 'मैंने आपको यह रूप इसलिये दिखलाया है कि आपको मेरे पूर्व अवतारोंका स्मरण हो जाय। यदि मैं ईश्वररूपमें प्रकट न होता तो केवल मनुष्यशरीरसे मेरे अवतारकी पहचान नहीं हो पाती।' एवं वहाँ भगवान्ने अपनेको यशोदाके यहाँ पहुँचानेके लिये वसुदेवजीको प्रेरणा भी की। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान्का जन्म नहीं होता। दूसरी बात वहाँ यह भी दिखलायी गयी है कि भगवान्की योगशक्तिके प्रभावसे वसुदेवजीकी हथकड़ी-बेड़ियाँ खुल गयीं, दरवाजे और ताले खुल गये, पहरेदारोंको निद्रा आ गयी तथा वसुदेवजीके श्रीकृष्णको लेकर गोकुल जाते समय यमुनाका बढ़ा हुआ जल अत्यन्त कम हो गया, यमुनाने उनके लिये मार्ग दे दिया एवं यशोदाको निद्रा आ गयी। जब वसुदेवजी श्रीकृष्णको यशोदाकी शय्यापर सुलाकर उनके बदलेमें योगमायाको, जो वहाँ कन्याके रूपमें प्रकट हुई थीं, वहाँसे लेकर कारागारमें आ गये, तब कारागारके फाटक और ताले अपने-आप बंद हो गये (श्रीमद्भा० १०।३)। यह सब भगवान्का ही प्रभाव है। ऐसी शक्ति मनुष्योंमें नहीं होती।

'अव्ययात्मा अपि सन्' कहकर भगवान्ने यह भाव प्रकट किया है कि मेरा विनाश होता-सा प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें मेरा विनाश नहीं होता; क्योंकि मेरा स्वरूप अक्षय है। भगवान् श्रीकृष्ण जब परम धाममें पधारे, तब उस शरीरसे ही परम धाममें गये। श्रीमद्भागवतमें आया है—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥

(११।३१।६)

'भगवान्का श्रीविग्रह उपासकोंके ध्यान और धारणाका मङ्गलमय आधार और समस्त लोकोंके लिये परम रमणीय आश्रय है। इसलिये उन्होंने (योगियोंके समान) अग्नि-देवता-सम्बन्धी योग-धारणाके द्वारा उसको जलाया नहीं, सशरीर अपने धाममें पधार गये।'

श्रीमद्भगवद्गीताके एकादश अध्यायमें देखा जाता है कि अर्जुनके प्रार्थना करनेपर भगवान्ने उनको अपने विश्वरूपका दर्शन कराया और पुनः प्रार्थना करनेपर उसे छिपा लिया। न तो विश्वरूपका जन्म हुआ और न विनाश हुआ, केवल आविर्भाव और तिरोभाव हुआ। अतः जब भगवान् अवतार लेते हैं, तब प्रकट होते हैं और फिर अन्तर्धान हो जाते हैं।

इसी प्रकार ध्रुवजीको भगवान्ने चतुर्भुजरूपमें प्रकट होकर दर्शन दिया और फिर अन्तर्हित हो गये (श्रीमद्भा० ४।९)।

ऐसे ही भगवान् श्रीरामावतारमें माता कौसल्याके सम्मुख चतुर्भुजरूपमें प्रकट हुए और फिर सशरीर परम धामको चले गये। श्रीवाल्मीकीय रामायणमें कहा गया है—

पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः॥

(उत्तर० ११०।१२)

'ब्रह्माजीके वचन सुनकर परम बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजीने कर्तव्य निश्चय करके भाइयोंके साथ शरीरसहित अपने विष्णु-सम्बन्धी तेजमें प्रवेश किया।'

इसलिये यह समझना चाहिये कि भगवान्का स्वरूप अविनाशी है, उसका कभी विनाश नहीं होता।

तथा **'भूतानामीश्वरोऽपि सन्'** कहनेका अभिप्राय यह है कि भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंके ईश्वर होते हुए भी मनुष्य-से दिखायी पड़ते हैं, किंतु वास्तवमें मनुष्य नहीं हैं। अवतार-कालमें भगवान्ने जगह-जगह अपनी ईश्वरता दिखलायी है। जब ब्रह्माजीको मोह हो गया कि श्रीकृष्ण मनुष्य हैं या ईश्वर, तब वे भगवान्की परीक्षाके लिये उनके बछड़ों और ग्वाल-बालोंको चुराकर ले गये। उस समय उन बछड़ों और गोप-

बालकोंके रूपमें स्वयं प्रकट होकर भगवान्ने अनेक रूप धारण कर लिये। फिर ब्रह्माजीका मोह दूर हो जानेपर उन सब रूपोंका उपसंहार भी कर लिया (श्रीमद्भा० १०। १३)।

जब अक्रूरजी भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामको मथुरा ले जा रहें थे, उस समय वे यमुनाके ह्रदमें स्नान करने गये तो वहाँ भगवान्ने उनको जलमें भी अपना स्वरूप दिखाया और रथपर भी वैसे ही स्वरूपका दर्शन कराया (श्रीमद्भा० १०। ३९। ४१—४३)।

श्रीरामावतारमें भगवान् रामने भी अनेक रूप धारण किये थे—

अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला॥
कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किए सकल नर नारि बिसोकी॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

'उस समय कृपालु श्रीरामजी असंख्य रूपोंमें प्रकट हो गये और सबसे एक ही साथ यथायोग्य मिले। रघुवीर श्रीरामचन्द्रजीने कृपापूर्ण दृष्टिसे देखकर सब नर-नारियोंको शोकसे रहित कर दिया। भगवान् क्षणमात्रमें सबसे मिल लिये। परंतु हे उमा! यह रहस्य किसीने नहीं जाना।'

ये सब कार्य मनुष्यकी शक्तिके बाहर हैं। इनको भगवान् ही कर सकते हैं, दूसरा कोई नहीं।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

—इस कथनका यह भाव है कि भगवान् प्रकृतिको अपने अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होते हैं। यह भगवान्के जन्मकी विलक्षणता है। हमलोग संसारमें अपने पुण्य-पापोंके अनुसार प्रकृतिके पराधीन होकर जन्म लेते हैं और भगवान् स्वयं प्रकृतिको अधीन करके प्रकट होते हैं। उनके जन्ममें स्वतन्त्रता है और हमलोगोंके जन्ममें परतन्त्रता है। प्रकृति उनके वशमें रहती है और हमलोग प्रकृतिके वशमें रहते हैं। उनका शरीर दिव्य, चिन्मय, अलौकिक, पापों और दुर्गुणोंसे रहित, चिन्ता-शोक-जरा-मृत्यु और रोगसे मुक्त होता है और हमलोगोंके शरीर जड तथा पूर्वोक्त दोषोंसे युक्त होते हैं। उनका प्राकट्य धर्म, ज्ञान, प्रेम, सदाचार, श्रद्धा, भक्तिके प्रचारके द्वारा संसारके उद्धारके उद्देश्यसे होता है, किंतु हमलोगोंका जन्म कर्मफल भोगनेके लिये होता है। अतः उनके और हमलोगोंके जन्ममें अत्यन्त अन्तर है। उनके जन्म, कर्म और उद्देश्य भी अलौकिक होते हैं।

कहा भी है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४। ९)

'हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझे ही प्राप्त होता है।' (—क्रमशः)

राम-नामका प्रभाव

अपत-उतार, अपकारको अगारु, जग जाकी छाँह छुएँ सहमत ब्याध-बाधको।
पातक-पुहुमि पालिबेको सहसाननु सो, काननु कपटको, पयोधि अपराधको॥
तुलसी-से बामको भो दाहिनो दयानिधानु, सुनत सिहात सब सिद्ध, साधु साधको।
रामनाम ललित-ललामु कियो लाखनिको, बड़ो कूर कायर कपूत कौड़ी आधको॥
सब अंग हीन, सब साधन बिहीन, मन-बचन मलीन, हीन कुल-करतूति हौं।
बुद्धि-बल-हीन, भाव-भगति-बिहीन, हीन गुन, ग्यानहीन, हीन भाग हूँ, बिभूति हौं॥
तुलसी गरीबकी गई-बहोर रामनामु, जाहि जपि जीहँ रामहूको बैठो धूति हौं।
प्रीति रामनामसों, प्रतीति रामनामकी, प्रसाद रामनामकें पसारि पाय सूतिहौं॥

—गो० तुलसीदासजी

आचार्य शंकरका शक्तितत्त्व-विमर्श

(पद्मभूषण पण्डित श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

शंकराचार्यपादानां तन्त्रशास्त्रीयचिन्तनम्।
स्वीयग्रन्थेषु निर्दिष्टं स्पष्टमत्र विचार्यते॥

परिव्राजकाचार्य आचार्य शंकर अद्वैत वेदान्तके जितने महान् सूक्ष्म विवेचक तथा महनीय आलोचकशिरोमणि थे, तन्त्रशास्त्रके भी वे उतने ही मर्मज्ञ आचार्य, अन्तरालोडन-निष्णात विद्वान् तथा तान्त्रिक विज्ञानवेत्ता थे। अद्वैत वेदान्तके इतिहासमें उनके ग्रन्थ नितान्त प्रामाणिक एवं प्रख्यात हैं। शाक्त तन्त्रके अन्तर्गत श्रीविद्या-सम्प्रदायमें भी उनकी रचनाएँ गम्भीर तथा विश्रुत हैं। आगमको निगमसे एकान्ततः भिन्न माननेवाले आलोचकोंकी कमी नहीं है, परंतु यथार्थतः दोनोंका मञ्जुल सामरस्य ही निगमागममूलक भारतीय संस्कृतिका मूलाधार है। मूलतः अन्वेषण करनेपर वैदिक संहिताओंके मन्त्रोंमें तान्त्रिक तथ्योंकी उपलब्धि आश्चर्यप्रसू नहीं है। कतिपय तथ्योंका ही यहाँ संकेत किया जा रहा है, जिससे शाक्त तन्त्रकी वैदिक परम्पराकी एक दिव्य झाँकी हमारे नेत्रोंके सम्मुख उपस्थित हो जाती है।

श्रीविद्याका वैदिक स्रोत—श्रीविद्याका मूलतन्त्र-संकेत ऋग्वेदके इस मन्त्रमें सद्यः उपलब्ध होता है—

चत्वार ई बिभ्रति क्षेमयन्तो दश गर्भं चरसे धापयन्ते।
त्रिधातवः परमा अस्य गावो दिवश्चरन्ति परि सद्यो अन्तान्॥
(ऋग्वेद ५।४७।४)

सायणाचार्यने इस ऋचाका आधिदैविक अर्थ सूर्यपरक किया है, परंतु सौन्दर्य लहरीके व्याख्याता आचार्य लक्ष्मीधरके अनुसार इसके दोनों आदिम पद मूल विद्याकी ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। वे कहते हैं—'**षोडशकलात्मकस्य श्रीबीजस्य गुरु-सम्प्रदायवशाद् विज्ञेयस्य स्थितत्वात् चतुर्णामीकाराणां सिद्धेः मूलविद्यायाः वेदस्थितत्वं सिद्धम्**' (सौन्दर्यलहरीके पञ्चम श्लोककी व्याख्या)।[1]

तैत्तिरीयसंहिता, ब्राह्मण एवं आरण्यकमें इस तथ्यके पोषक प्रमाणोंका बाहुल्य है। तैत्तिरीय आरण्यक (प्रश्न-मन्त्र १—२९) में उपलब्ध अरुणोपनिषद् अरुणा नाम्नी भगवतीके कार्यकलाप एवं माहात्म्यका स्पष्टतः वर्णन करती है। इस उपनिषद्के द्रष्टा अरुणकेतु नामके ऋषि हैं। अरुणा भगवती ही श्रीविद्या हैं। इनका वर्णन शंकराचार्यने सौन्दर्यलहरीमें इस रमणीय पद्यके द्वारा किया है।

अराला केशेषु प्रकृतिसरला मन्दहसिते
शिरीषाभा चित्ते दृषदुपलशोभा कुचतटे।
भृशं तन्वी मध्ये पृथुरुरसिजारोहविषये
जगत् त्रातुं शम्भोर्जयति करुणा काचिदरुणा॥ ९३॥

इसका भाव यह है—यद्यपि आपके केश घुँघराले हैं, किंतु आपकी प्रकृति (स्वभाव) अत्यन्त सरल एवं कोमल है। मुखपर मन्द मुसकान है। हृदय शिरीषपुष्पके तुल्य मृदुल है, किंतु वक्षःस्थल उपलकी शोभा धारण करते हैं। कटिभाग कृश है, परंतु उरःस्थल पर्याप्त पृथुल है। इस प्रकार भगवान् शंकरकी करुणा ही मानो कोई रक्तवर्णकी सौन्दर्यराशि विश्वके परित्राणके लिये अरुणादेवीके रूपमें विजयी हो रही है।

इन अरुणा भगवतीके चरण-युगलके अन्तरालसे अमृत-मयी धारा प्रवाहित होती है, जो समस्त विश्व-प्रपञ्चको अपने रससे संसिक्तकर उसे जीवन-शक्ति प्रदान करती रहती है—

सुधाधारासारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः
प्रपञ्चं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नायमहसा।
(सौ० ल० १०)

इस सम्बन्धमें तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।१२।३) के निम्नलिखित मन्त्रका समर्थन प्राप्त होता है—

लोकस्य द्वारमर्चिमत्पवित्रं ज्योतिष्मत् भ्राजमानं महस्वत्।
अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानं चरणं नो लोके सुधितान् दधातु॥

इसका सारांश है—आपके दोनों चरण, जो अमृतधारा-को प्रवाहित करते हुए संसारके मार्गको ज्योतिष्मान् और अपनी प्रभासे विभ्राजित, प्रकाशित एवं पवित्र करते रहते हैं,

---

१- श्रीविद्या गुरुमुखके द्वारा ही ज्ञेय है। इस गुप्त रहस्यको जाननेवाले आचार्य सायणने इसका उल्लेख नहीं किया, किंतु मूल मन्त्रमें प्रथम दो पदोंमें जो चार ईकारोंका संकेत है, वे श्रीविद्याके चार खण्डोंमें विभक्त पदोंके अन्तमें आनेवाले ह्रींकारके अन्तिम मात्राके ही सूचक हैं, इससे स्पष्ट होता है, श्रीविद्या-सम्प्रदायका मूल बीज वेदोंमें भी निहित है।

वे हमें इस लोकमें बुद्धि, मेधा एवं प्रतिभासे संयुक्त करें।

वैदिक युगके अनन्तर यह धारा आगे बढ़ती गयी। इस युगमें ऋषिप्रणीत शुभागम-पञ्चक नामक पाँच ग्रन्थोंकी उपलब्धि होती है। वसिष्ठसंहिता, सनकसंहिता, शुकसंहिता, सनन्दनसंहिता एवं सनत्कुमारसंहिता—ये पाँचों संहिताएँ शुभागम-पञ्चकके नामसे प्रसिद्ध हैं, जिनके प्रमाण प्राचीन तन्त्रग्रन्थोंमें बहुलतासे उपलब्ध होते हैं।

इसके अनन्तर शंकराचार्यके परम गुरु आचार्य श्रीगौड़पादकी श्रीविद्यासे सम्बन्धित दो विशिष्ट रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। इनमें एक है श्रीविद्यारत्नसूत्र[१], जो सूत्रात्मक है। इसके टीकाकार श्रीशंकराचार्य हैं। दूसरी रचना है सुभगोदय-स्तुति। यह स्तुति दो प्रकारकी है। श्लोकोंकी संख्या ५२ है। एक तो है लम्बे छन्दोंमें और दूसरी है केवल अनुष्टुप् छन्दमें। प्रथम प्रकारके छन्दका नमूना देखिये—

भवानि त्वां वन्दे भवमहिषि सच्चित्सुखवपुः
पराकारां देवीममृतलहरीमैन्दवकलाम्।
महाकालातीतां कलितसरणीकल्पिततनुं
सुधासिन्धोरन्तर्वसतिमनिशं वासरमयीम्॥

अनुष्टुप् छन्दोंवाले इनके द्वितीय ग्रन्थका निर्देश लक्ष्मीधरने अपनी पूर्वोक्त व्याख्यामें किया है, जिसपर आचार्य शंकरकी तथा लक्ष्मीधरकी भी व्याख्याएँ थीं। सौभाग्य-भास्करसे पता चलता है कि लल्लकी भी इसपर टीका थी।

आचार्य शंकरकी तान्त्रिक रचनाएँ—गौडपादाचार्यकी इन रचनाओंका प्रभाव आचार्य शंकरके ऊपर पर्याप्तरूपेण लक्षित होता है। एक तथ्य ध्यातव्य है कि जिस प्रकार गौडपादके ग्रन्थमें अद्वैत वेदान्तके साथ त्रिपुरातन्त्रका मञ्जुल सामरस्य है, उसी प्रकार शंकराचार्यने अद्वैत ग्रन्थोंकी रचनाके साथ-ही-साथ श्रीविद्याविषयक ग्रन्थोंका भी निर्माण किया, जिनमेंसे आचार्यके दो ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं—(१) प्रपञ्चसार तथा (२) ललितात्रिशतीभाष्य। इनके अतिरिक्त शंकराचार्यके त्रिपुरसुन्दरीकी प्रार्थनासम्बन्धी सौन्दर्यलहरी, परापूजा, त्रिपुरसुन्दरीमानसपूजा, चतुःषष्ट्युपचारपूजा, ललितापञ्चरत्न,नवरत्नमालिका,षोडशीकल्याणवृष्टि आदि स्तोत्र विशेष उल्लेखनीय हैं। ललितात्रिशतीभाष्य तो अद्वैत वेदान्त एवं त्रिपुरासम्प्रदायके सिद्धान्तोंसे युगपत् मण्डित एवं अभ्यर्हित है। आचार्यके परमप्रिय शिष्य पद्मपादाचार्यद्वारा निर्मित 'विवरण' नामकी प्रपञ्चसारकी टीका इसे शंकराचार्यकी ही प्रामाणिक रचना सिद्ध करती है। छत्तीस पटलोंमें विभक्त इस तन्त्रग्रन्थमें ढाई हजारसे भी कुछ अधिक श्लोक हैं। इसके आरम्भके एकादश पटलोंमें तन्त्रशास्त्रके प्रसिद्ध तथ्योंका विवरण है तथा अन्य पटलोंमें नाना मन्त्रोंसे विविध देवताओंके मन्त्र, उनकी जप-विधि, ध्यान, होमद्रव्य, हवन-विधि आदि अनुष्ठानोंकी प्रक्रियाका व्यवस्थित वर्णन मिलता है। सूत-संहिताकी टीकामें गोवाके माधवमन्त्री और पराशरसंहिताकी टीकामें माधवाचार्यने प्रपञ्चसारको शंकराचार्यकृत माना है। शारदातिलककी टीकामें राघवभट्ट भी यही कहते हैं। सम्मोहन-तन्त्रमें शंकर और उनके चार शिष्योंका वर्णन है। सौन्दर्यलहरीके शंकराचार्यकी रचना होनेमें प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं। आचार्यने गौड़पादके सुभगोदयके अनुकरणमें इस स्तुतिका निर्माण किया था। इसपर तीसके आसपास संस्कृत-टीकाएँ हैं। इसकी सर्वप्राचीन टीका आचार्यके पट्टशिष्य सुरेश्वराचार्यकी है। शृंगेरीमठमें इस टीकाकी अतिप्राचीन प्रति आज भी उपलब्ध है। अवान्तर टीकाओंमें कामेश्वरसूरिकी अरुणामोदिनी, श्रीरामकविका डिण्डिमभाष्य, दामोदरकी गोपालसुन्दरी व्याख्या एवं कैवल्याश्रमकी सम्प्रदाय-व्याख्या परम श्रेष्ठ है, साथ ही आचार्य लक्ष्मीधरकी व्याख्या बड़ी ही प्राञ्जल, रहस्यप्रकाशिका तथा प्रामाणिक है। ये उत्कलके मध्ययुगीन विख्यात शासक राजा प्रतापरुद्रदेवके आश्रित थे, जो आन्ध्रके विद्याप्रेमी भूपाल राजा कृष्णदेवके समकालीन तथा जामाता भी थे।(समय १६वीं शती)। सौन्दर्यलहरीके आरम्भके ४१ पद्य आनन्दलहरीके नामसे भी विख्यात हैं, जो श्रीविद्याके गम्भीर रहस्योंके प्रतिपादक हैं तथा अन्तिम ५९ पृथक्कृत पद्य भगवती ललिताके ललित विग्रहके साहित्यिक वर्णन-परक हैं, इसलिये वे सौन्दर्य-लहरीके नामसे प्रसिद्ध हैं। इन दोनों ग्रन्थोंके स्वरूपमें भिन्नता नितान्त स्पष्ट है। प्रपञ्चसार एक समग्र तन्त्र-ग्रन्थ है, जिसमें तन्त्रोक्त नाना देव-देवियोंकी उपासनाका पूर्ण विधान दिया गया है। साथमें तन्त्रके सामान्य तथ्योंका विवरण भी उसकी

१-सरस्वती-भवन संस्कृत-ग्रन्थमाला (वाराणसी) में प्रकाशित।

पूर्णताके लिये दिया गया है। सौन्दर्यलहरी केवल श्रीविद्याका प्रतिपादक होनेसे त्रिपुरसुन्दरी-सम्प्रदायके तन्त्रसम्मत तथ्योंका ही विशिष्ट विवरण प्रस्तुत करती है। यह स्तोत्रमात्र है, परंतु प्रपञ्चसारका क्षेत्र विस्तृत है। ग्रन्थके आरम्भमें शारदाकी प्रार्थना है।

अकचटतपयाद्यैः सप्तभिर्वर्णवर्गै-
र्विरचितमुखबाहापादमध्याख्यहृत्का ।
सकलजगदधीशा शाश्वता विश्वयोनि-
र्वितरतु परिशुद्धिं चेतसः शारदा वः ॥

'अ, क, च, ट, त, प तथा य—इन सात वर्गात्मक स्वर एवं व्यञ्जन वर्णोंके द्वारा अपने मुख, बाहु, चरण, कटिप्रदेश तथा हृदयकी रचना करती हुई समस्त संसारकी स्वामिनी और इस विश्वको उत्पन्न करनेवाली नित्यसिद्धा भगवती शारदादेवी आपके चित्तको पूर्ण शुद्धि प्रदान करें।'

उपान्त्य-पद्यमें यह तन्त्रग्रन्थ सभी अपने अवर्णनीय विषयोंका भी संक्षिप्त संकेत एक ही पद्यमें इस प्रकार करता है—

इत्थं मूलप्रकृत्यक्षरविकृतिलिपिव्रातजातग्रहर्क्ष-
क्षेत्राद्याबद्धभूतेन्द्रियगुणरविचन्द्राग्निसम्प्रोतरूपैः ।
मन्त्रैस्तद्देवताभिर्मुनिभिरपि जपध्यानहोमार्चनाभि-
स्तन्त्रेऽस्मिन् पञ्चभेदैरपि कमलज ते दर्शितोऽयं प्रपञ्चः ॥

(प्रपञ्चसार ३६। ६२)

भगवान् विष्णु ब्रह्माजीसे कहते हैं—'ब्रह्मन्! इस प्रकार मैंने इस प्रपञ्चसार-ग्रन्थमें भुवनेश्वरी-बीजसे उत्पन्न पचास अक्षर और उनकी विकृति-युक्त लिपिसमूह, मातृकाओंसे उत्पन्न ग्रह, नक्षत्र, राशि, तिथि, करण आदिमें आबद्ध पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूत, समस्त प्राणिवर्ग, उनकी इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके सत्त्व, रज आदि गुण, सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि देवतागण, ऋषिगण, उनको वशमें करनेवाले मन्त्र और उन मन्त्रोंके जप, ध्यान, होम, पूजा, अर्चन, उपासना, पञ्चाङ्ग आदि विधानोंके साथ-साथ विश्वप्रपञ्चका भी वर्णन किया गया है।

सौन्दर्यलहरी सिद्ध ग्रन्थ है। इसके प्रत्येक श्लोक मन्त्र-रूप हैं। इसीलिये अभीष्टसिद्धिके लिये विशिष्ट यन्त्रोंके साथ इन श्लोकोंके जपनेकी विधि परम्परासे निर्धारित की गयी है।

शक्तिकी महिमा—आचार्य शंकरकी मान्यता है कि शक्तिसे संयुक्त होनेपर ही शिव विश्वकी रचना तथा संरक्षण-कार्यमें समर्थ होते हैं। यदि शक्तिके संयोगका अभाव हो तो वे स्पन्दन करनेमें भी समर्थ नहीं हैं, वे हिल-डुल भी नहीं सकते। शक्तिका तान्त्रिक बीज 'इकार' है। शिव शब्दसे यदि इकारको निकाल दिया जाय, तो शिव 'शव' बन जाता है, एकदम निर्जीव प्राणी, जो अपने अङ्ग भी हिला-डुला नहीं सकता, अन्य कर्मोंकी तो कथा ही नहीं। सौन्दर्यलहरीका आदि पद्य ही इस तथ्यकी अभिव्यक्ति करता है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।

तन्त्रशास्त्रकी यह सर्वमान्य कल्पना है, जो तन्त्र-ग्रन्थोंमें बहुशः अभिव्यक्त है। गौडपादाचार्यने अपनी 'सुभगोदय-स्तुति' में इसे इस पद्यके द्वारा प्रकट किया है—

परोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किंचन ।
शक्तः स्यात् परमेशानि शक्त्या युक्तो भवेद् यदि ॥

(लक्ष्मीधरव्याख्यामें उद्धृत पृ० २९)

यह शक्ति शिवके साथ सहस्रारपद्ममें निवास करती है। मूलाधारमें भी दोनोंका नृत्य होता है, जिससे जगत्की सृष्टि होती है। शंकरने षट्चक्रोंके रूप तथा भेदन-प्रकारका (सौ० ल० ९-१०) तथा श्रीचक्रके स्वरूपका भी (सौ० ल० श्लोक ११) विशद वर्णन किया है। शक्तिवादका यह सिद्धान्त आचार्यद्वारा उनके अन्य ग्रन्थोंमें भी वर्णित है। ब्रह्मसूत्रके **'तदधीनत्वादर्थवत्'**इस सूत्रके भाष्यमें आचार्य शंकरने पूर्वपक्षीय उपस्थापनामें चर्चा की है—

न हि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिध्यति ।
शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः ॥

(ब्र० सू० १। ४। ३ का भाष्य)

ब्रह्मकी विविधरूपिणी शक्तिके कारण ही सृष्टिमें विभिन्नता दीखती है-**'एकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात् क्षीरादिवत् विचित्रपरिणाम उपपद्यते।'** (ब्रह्मसूत्र-भाष्य २। २। २४)

शाक्तमतानुसार शिव ही अपनी शक्तिके द्वारा विश्वरूप हो जाते हैं। दूसरे शब्दमें शिव अपनी अपरिच्छिन्न सत्ताको त्यागकर परिच्छिन्न जीव बन जाते हैं और इस प्रकार संसारके सुख-दुःखोंका उपभोग करते हैं। वस्तुतः शिवको जीव-रूपमें भोगके लिये जिन उपकरणों—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा अहंकारकी आवश्यकता होती है, उन रूपोंमें भगवती शक्ति

स्वयं ही प्रकट हो जाती हैं। आचार्य शंकर इसका विवेचन इस पद्यमें करते हैं—

मनस्त्वं व्योम त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां न हि परम्।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा
चिदानन्दाकारं शिवयुवतिभावेन बिभृषे॥

(सौन्दर्यलहरी ३५)

इसका भाव है—(हे देवि!) आप ही मन, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा भूमिके रूपमें परिणत हुई हैं। आपके अतिरिक्त इस संसारमें कुछ नहीं है। आप स्वयं ही अपनी आत्माको योगबलसे विश्वरूपमें परिणत करती हैं और चिदानन्दस्वरूपा शिवपत्नी भगवती पार्वतीका रूप धारण कर स्थित रहती हैं।

तथ्य तो यह है कि आचार्य शंकरकी दृष्टिमें विश्वका कारणभूत 'ब्रह्म' निःसंदेह शक्तिसे अभिन्न है और शक्ति भी कारणभूत ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, क्योंकि अन्ततोगत्वा कारण-शक्ति तथा कार्य एक ही है। शंकरका कथन है—**'कारणभूता शक्तिः। शक्तेश्च आत्मभूतं कार्यम्।'** श्वेताश्वतर उपनिषद् ईश्वरका कोई लिंग, जाति नहीं बतलाती। **'नैव स्त्री न पुमानेषः'**(५।१०), किंतु फिर भी वह पुरुष भी हो सकता है, स्त्री भी हो सकता है, कुमार तथा कुमारी भी—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।

(श्वेताश्वतर० ४।३)

इसी विचारधाराको शंकराचार्यने अपने ललितात्रिशती-भाष्यमें भी विशद रीतिसे प्रतिपादित किया है—

चकारः निर्गुणब्रह्मणोऽपि सगुणब्रह्मविशेषणसद्भाव-समुच्चयपरः सर्वत्रापि द्रष्टव्यः। 'सच्चिन्मयः शिवः साक्षात् तस्यानन्दमयी शिवा' इति वचनेन 'स्त्रीरूपां चिन्तयेद् देवीं पुंरूपामथवेश्वरीम्' (ललितात्रिशतीस्तोत्र श्लोक ५ में चकारकी टीका)। अतएव **'सेयं देवतैक्षत'** (छान्दोग्य० ६।३।२) **इत्यादौ, उपाधिकृतनानारूपसम्भवोक्तेश्च। अतएव 'सेयं देवता ऐक्षत' इत्यादौ 'तत् सत्यं स आत्मा इत्यन्ते च श्रुतौ स्त्रीलिङ्गान्तदेवतादिपदानां, तत् सत्यमिति' नपुंसकान्तस्य, 'स आत्मा' इति पुँल्लिङ्गात्मशब्दस्य एकार्थत्वम्। अविवक्षितोपाधिमत्तया तत्त्वंपदलक्ष्यार्थस्य एकत्वात्। तस्मात् तत्त्वंपदलक्ष्यार्थे सर्वेऽपि गुणा वर्णयितुं सम्भवन्तीति हयग्रीवेन अस्यां त्रिशत्यां बहवः चकारा उपात्ताः।**

शंकराचार्यके उपर्युक्त भाष्य-वचनसे स्पष्ट है कि वे परब्रह्मको 'देवता' शब्दद्वारा स्त्रीलिङ्ग, 'तत्' शब्दके द्वारा नपुंसक तथा 'पुं' आत्माके द्वारा पुँल्लिङ्ग माननेकी शास्त्रीय मान्यतासे पूर्ण परिचित थे और इसलिये उनकी दृष्टिमें परब्रह्मको शक्तिके द्वारा तन्त्रोंमें अभिव्यक्त किया जाना कथमपि अनुचित नहीं है। वे सौन्दर्यलहरीमें कहते हैं—

गिरामाहुर्देवीं द्रुहिणगृहिणीमागमविदो
हरेः पत्नीं पद्मां हरसहचरीमद्रितनयाम्।
तुरीया कापि त्वं दुरधिगमनिस्सीममहिमा
महामाया विश्वं भ्रमयसि परब्रह्ममहिषि॥

(सौ० ल० ९८)

इसका भाव इस प्रकार है—हे देवि! आगमवेत्ता तुम्हें परम्परया ब्रह्माकी पत्नी सरस्वती, श्रीहरिकी पत्नी लक्ष्मी तथा हरकी सहचरी पार्वती भले ही मानें, परंतु तुम इन तीनोंसे भिन्न एवं विलक्षण, श्रेष्ठ, अगम्य, निस्सीम, महिमामयी सम्पूर्ण विश्वका संचालन करनेवाली महामायारूपा चौथी कोई शक्ति परब्रह्मकी महिषी हो। (क्रमशः)

'सांसारिक पदार्थों और मनुष्योंसे मिलना-जुलना कम रखना चाहिये। संसार-सम्बन्धी बातें बहुत ही कम करनी चाहिये।'

'बिना पूछे न तो किसीके अवगुण बताने चाहिये और न उनकी तरफ ध्यान ही देना चाहिये।'

'सबके साथ निष्काम और समभावसे प्रेम करना चाहिये।'

'मनुष्यको समयकी कीमत जाननी चाहिये, समय प्रतिक्षण घट रहा है। मनुष्य-शरीरका समय अमूल्य है। इसे भजन, ध्यान, सत्संगरूप अमूल्य कामोंमें ही लगाना चाहिये।'

श्रीराधाभावकी एक झाँकी

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

(श्रीमद्भागवत ६। ११। २५-२६)

भक्तहृदय वृत्रासुरने मरते समय श्रीभगवान्‌से प्रार्थना की—'हे सर्वसौभाग्यनिधे! मैं आपको छोड़कर इन्द्रपद, ब्रह्माका पद, सार्वभौम—सारी पृथ्वीका एकच्छत्र राज्य, पातालका एकाधिपत्य, योगकी सिद्धियाँ और अपुनर्भव—मोक्ष भी नहीं चाहता। जैसे पक्षियोंके बिना पाँख उगे बच्चे अपनी माँ चिड़ियाकी बाट देखते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी माँ गैयाका दूध पीनेके लिये आतुर रहते हैं और जैसे वियोगिनी प्रियतमा पत्नी अपने प्रवासी प्रियतमसे मिलनेके लिये छटपटाती रहती है, वैसे ही कमलनयन! मेरा मन आपके दर्शनके लिये छटपटा रहा है।'

उपर्युक्त वाक्य भगवत्प्रेमीके हृदयकी त्यागमयी अभिलाषाके स्वरूपको व्यक्त करते हैं। भगवत्प्रेमी सर्वथा निष्काम होता है। प्रेममें किसी भी स्व-सुखकी कामनाके लिये कोई स्थान नहीं है। प्रेमी देना जानता है, लेना जानता ही नहीं। प्रेमास्पदके सुखके लिये ही उसका सहज जीवन, उसके जीवनके सभी कार्य, उसकी चेष्टाएँ, कल्पनाएँ और उसके सभी विचार होते हैं। प्रेमास्पद प्रभुको सुखी बनानेवाली सेवा ही उसके जीवनका स्वभाव है। उसको छोड़कर वह संसारका—इहलोक, परलोकके बड़े-से-बड़े भोगकी तो बात ही क्या, पाँच प्रकारकी मुक्तियाँ भी देनेपर स्वीकार नहीं करता—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(श्रीमद्भागवत ३। २९। १३)

भगवान् (श्रीकपिलदेव) कहते हैं—'मेरे प्रेमी भक्त मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य (भगवान्‌के नित्यधाममें निवास), सार्ष्टि (भगवान्‌के समान ऐश्वर्य-भोग), सामीप्य (भगवान्‌के समीप रहना), सारूप्य (भगवान्‌के समान रूप प्राप्त करना) और एकत्व (भगवान्‌में मिल जाना—ब्रह्म-स्वरूपको प्राप्त हो जाना)—ये (पाँच प्रकारकी दुर्लभ मुक्तियाँ) दिये जानेपर भी नहीं लेते।'

भगवत्प्रेमियोंकी पवित्र प्रेमाग्निमें भोग-मोक्षकी सारी कामनाएँ, संसारकी सारी आसक्तियाँ और ममताएँ सर्वथा जलकर भस्म हो जाती हैं। उनके द्वारा सर्वस्वका त्याग सहज स्वाभाविक होता है। अपने प्राणप्रियतम प्रभुको समस्त आचार अर्पण करके वे केवल नित्य-निरन्तर उनके मधुर स्मरणको ही अपना जीवन बना लेते हैं। उनका वह पवित्र प्रेम सदा बढ़ता रहता है, क्योंकि वह न कामना-पूर्तिके लिये होता है, न गुणजनित होता है। उसका तार कभी टूटता ही नहीं, सूक्ष्मतररूपसे नित्य-निरन्तर उसकी अनुभूति होती रहती है और वह प्रतिक्षण नित्य-नूतन मधुर रूपसे बढ़ता ही रहता है। उसका न वाणीसे प्रकाश हो सकता है, न किसी चेष्टासे ही उसे दूसरेको बताया जा सकता है—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।

(नारदभक्तिसूत्र ५१)

इस पवित्र प्रेममें इन्द्रिय-तृप्ति, वासनासिद्धि, भोग-लालसा आदिको स्थान नहीं रहता। बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रियाँ—सभी नित्य-निरन्तर परम प्रियतम प्रभुके साथ सम्बन्धित रहते हैं। मिलन और वियोग—दोनों ही नित्य-नवीन रसवृद्धिमें हेतु होते हैं। ऐसा प्रेमी केवल प्रेमकी ही चर्चा करता है, प्रेमकी चर्चा सुनता है, प्रेमका ही मनन करता है, प्रेममें ही संतुष्ट रहता और प्रेमका ही नित्य स्मरण करता है। वह लवमात्रके लिये भी किसी भगवत्प्रेमीका सङ्ग प्राप्त कर लेता है तो उसके सामने मोक्षतकको तुच्छ समझता है। श्रीमद्भागवतमें आया है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(१। १८। १३)

'भगवदासक्त प्रेमी भक्तके लवमात्रके सङ्गसे स्वर्ग और अपुनर्भव—मोक्षकी भी तुलना नहीं की जा सकती, फिर मनुष्योंके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है?'

इस परम पवित्र, भुक्ति-मुक्ति-त्यागसे विभूषित उज्ज्वलतम प्रेमकी सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति व्रजगोपियोंमें हुई। उनमें श्रीकृष्ण-सुख-लालसाके अतिरिक्त और कुछ था ही नहीं। अपनी कोई चिन्ता उन्हें कभी नहीं हुई। ये सब गोपाङ्गनाएँ श्रीराधारानीकी कायव्यूहरूपा हैं और उन्हींके सुख-सम्पादनार्थ अपना जीवन अर्पण करके प्रेमका परम पवित्र आदर्श व्यक्त कर रही हैं। इनमें श्रीराधारानीकी सखियोंमें आठ प्रधान हैं—ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, सुदेवी, तुङ्गविद्या, इन्दुलेखा और रङ्गदेवी। इनमें प्रत्येककी अनुगता आठ-आठ किंकरियाँ हैं तथा अनेक मञ्जरीगण हैं। ये सभी श्रीराधा-माधवकी प्रीतिसाधनामें ही नित्य संलग्न रहती हैं। इन सबकी आधाररूपा हैं श्रीराधिकाजी। प्रेमभक्तिका चरम स्वरूप श्रीराधा-भाव है। इस भावका यथार्थ स्वरूप श्रीराधिकाके अतिरिक्त समस्त विश्वके दर्शनमें कहीं नहीं मिलता। श्रीराधा शङ्का, संकोच, संशय, सम्भ्रम आदिसे सर्वथा शून्य परम आत्मनिवेदनकी पराकाष्ठा हैं। रति, प्रेम, प्रणय, मान, स्नेह, राग, अनुराग और भाव—इस प्रकार उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ परम त्यागमय पवित्र प्रेम अन्तमें जिस स्वरूपको प्राप्त होता है, उसे 'महाभाव' कहा गया है। इस महाभावके उदय होनेपर क्षणभर भी प्रियतमका वियोग नहीं होता। श्रीराधा इसी महाभावकी प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। वे महाभाव-स्वरूपा हैं। श्रीकृष्णकी समस्त प्रेयसीगणोंमें वे सर्वश्रेष्ठ हैं। नित्य-नव परम सौन्दर्य, नित्य-नव माधुर्य, नित्य-नव असमोर्ध्व लीलाचातुर्यकी विपुल नित्य वर्धनशील दिव्य सम्पत्तिसे समलङ्कृत प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर श्रीराधाके प्रेमके आलम्बन हैं और श्रीराधा इस मधुर रसकी श्रेष्ठतम आश्रय हैं। ये श्रीराधा कभी प्रियतमके संयोग-सुखका अनुभव करती हैं और कभी वियोग-वेदनाका। इनका मिलन-सुख और वियोग-व्यथा—दोनों ही अतुलनीय तथा अनुपमेय है। श्रीरूपगोस्वामी महोदय वियोगकी एक झाँकीका दर्शन इस प्रकार कराते हैं—

अश्रूणामतिवृष्टिभिर्द्विगुणयन्त्यर्कात्मजानिर्झरं
ज्योत्स्नीस्यन्दिविधूपलप्रतिकृतिच्छायं वपुर्बिभ्रती।
कण्ठान्तस्त्रुटदक्षराद्यपुलकैर्लब्ध्वा कदम्बाकृतिं
राधा वेणुधर प्रवातकदलीतुल्या क्वचिद् वर्तते॥

श्रीराधिकाकी एक सखी श्यामसुन्दरसे कहती है—'वेणुधर! तुम्हारे अदर्शनसे राधाकी दशा आज कैसी हो रही है! उनके नेत्रोंसे जलकी इतनी अधिक वर्षा हो रही है कि उससे यमुनाजीका जल बढ़कर दूना हो गया है। उनके शरीरसे इस प्रकार पसीना झर रहा है, जैसे चाँदनी रात्रिमें चन्द्रकान्तमणि पसीजकर रस बहाने लगती है। उनका शरीर भी चन्द्रकान्त-मणिकी भाँति ही स्तब्ध (निश्चेष्ट) हो गया और उनका वर्ण भी उसी मणिके सदृश पीला पड़ गया है। उनके कण्ठकी वाणी रुक-रुककर निकलती है तथा उनका स्वर-भङ्ग हो गया है। उनका सर्वाङ्ग कदम्बके केसरकी भाँति पुलकित हो रहा है। भयंकर आँधी-पानीमें जैसे केलेका वृक्ष काँपकर भूमिपर गिर जाता है, वैसे ही उनकी अङ्गलता भूमिपर गिर पड़ी है।'

ये सब महान् भाव-तरङ्गें श्रीराधाके महाभाव-सागरको प्रकट दिखला रही हैं।

वस्तुतः श्रीकृष्ण, श्रीराधा, श्रीगोपाङ्गनासमूह एवं उनकी मधुरतम लीलाओंमें कोई भेद नहीं है। रस-स्वरूप श्रीश्यामसुन्दर ही अनन्त-अनन्त रसोंके रूपमें प्रकट होकर स्वयं ही अनन्त-अनन्त रसोंका समास्वादन करते हैं। वे स्वयं ही आस्वाद्य, आस्वादक और आस्वाद बने हैं। तथापि श्रीराधा-माधवका मधुरातिमधुर लीला-रस-प्रवाह अनादि-अनन्तरूपसे चलता रहता है। श्रीकृष्ण और श्रीराधाका कभी बिछोह न होनेपर भी वियोगलीला होती है, पर उस वियोगलीलामें भी संयोगकी अनुभूति होती है और संयोगमें भी वियोगका भान होता है। ये सब रस-समुद्रकी तरङ्गें हैं। प्रेमका स्वभाव श्रीराधाके अंदर पूर्णरूपमें प्रकट है, इसलिये वे अपनेमें रूप-गुणका सर्वथा अभाव मानती हैं। श्रीकृष्णको नित्य अपने सांनिध्यमें ही देखकर सोचती हैं कि मेरे मोहमें प्राणनाथ यथार्थ सुखसे वञ्चित हो रहे हैं। अच्छा हो, मुझे छोड़कर ये अन्यत्र चले जायँ तथा सुख-सम्पादन करें। पर श्रीकृष्ण कभी इनसे पृथक् नहीं होते। इस प्रकार प्रेमका प्रवाह चलता रहता है। परम त्याग, परम प्रेम और परम आनन्द—प्रेमकी इस पावन त्रिवेणीका प्रवाह अनवरत बहता ही रहता है।

एक विचित्र बात तब होती है, जब श्रीकृष्ण मथुरा पधार जाते हैं, श्रीराधा तथा समस्त गोपीमण्डल एवं सारा व्रज उनके

वियोगसे अत्यन्त पीड़ित हो जाता है, यद्यपि श्रीश्यामसुन्दर माधुर्यरूपमें नित्य श्रीराधाके समीप ही रहते हैं, पर लोगोंकी दृष्टिमें वे चले जाते हैं। मथुरासे संदेश देकर वे श्रीउद्धवजीको व्रजमें भेजते हैं।

श्याम-सखा श्रीउद्धवजी व्रजमें आकर नन्दबाबा एवं यशोदा मैयाको सान्त्वना देते हैं, फिर गोपाङ्गना-समूहमें जाते हैं, वहाँ बड़ा ही सुन्दर प्रेमका प्रवाह बहता है और उसमें उद्धवका समस्त चित्तप्रदेश आप्लावित हो जाता है। तदनन्तर वे श्रीराधिकाजीसे एकान्तमें बात करते हैं। श्रीराधाकी बड़ी ही विचित्र स्थिति है। वे जब उद्धवजीसे श्रीश्यामसुन्दरका मथुरासे भेजा हुआ संदेश सुनती हैं, तब पहले तो चकित-सी होकर मानो संदेहमें पड़ी हुई-सी कुछ सोचती हैं। फिर कहने लगती हैं—

'उद्धव ! तुम मुझको यह किसका कैसा संदेश सुना रहे हो ? तुम झूठमूठ मुझे क्यों भुलावेमें डाल रहे हो ? मेरे प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर तो यहीं हैं। वे कब परदेश गये ? कब मथुरा गये ? वे तो सदा मेरे पास ही रहते हैं। मुझे देखे बिना एक क्षण भी उनसे नहीं रहा जाता, मुझे न पाकर वे क्षणभरमें व्याकुल हो जाते हैं, वे मुझे छोड़कर कैसे चले जाते ? फिर मैं तो उन्हींके जिलाये जी रही हूँ, वे ही मेरे प्राणोंके प्राण हैं। वे मुझे छोड़कर चले गये होते तो मेरे शरीरमें ये प्राण कैसे रह सकते ?'

उद्धव ! तुम मुझको किसका यह सुना रहे कैसा संदेश ?
भुला रहे क्यों मिथ्या कहकर प्रियतम कहाँ गये परदेश ?
देखे बिना मुझे पलभर भी कभी नहीं वे रह पाते !
क्षणभरमें व्याकुल हो जाते, कैसे छोड़ चले जाते ?
मैं भी उनसे ही जीवित हूँ, वे ही हैं प्राणोंके प्राण।
छोड़ चले जाते तो कैसे तनमें रह पाते ये प्राण ?

इतनेमें ही श्रीकृष्ण खड़े दिखलायी दिये। तब श्रीराधा बोलीं—'अरे देखो, उधर देखो, वे नन्दकिशोर कदम्बके मूलमें खड़े कैसी निर्निमेष-दृष्टिसे मेरी ओर देख रहे हैं और मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं ! देखो तो, मेरे मुखको कमल समझकर प्राणप्रियतमके नेत्र-भ्रमर मतवाले होकर मधुर रस-पान कर रहे हैं।'

देखो—वह देखो, कैसे मृदु-मृदु मुसकाते नंदकिशोर।
खड़े कदम्ब-मूल, अपलक वे झाँक रहे हैं मेरी ओर॥
देखो, कैसे मत्त हो रहे, मेरे मुखको पङ्कज मान।
प्राणप्रियतमके दृग-मधुकर मधुर कर रहे हैं रसपान॥

'देखो, भौंहें चलाकर और आँखें मटकाकर वे मेरे प्राणधाम मुझसे इशारा कर रहे हैं तथा अत्यन्त आतुर होकर मुझको एकान्त कुञ्जमें बुला रहे हैं। उद्धव ! तुम भौंचक-से होकर कदम्बकी ओर कैसे देख रहे हो ? क्या तुम्हें श्यामसुन्दर नहीं दिखायी देते, अथवा क्या तुम उन्हें देखकर प्रेममें डूब गये हो ?'

भ्रकुटि चलाकर, दृग मटकाकर मुझे कर रहे वे संकेत।
अति आतुर एकान्त कुञ्जमें बुला रहे हैं प्राणनिकेत॥
कैसे तुम भौंचक-से होकर देख रहे कदम्बकी ओर?
क्या तुम नहीं देख पाते ? या देख हो रहे प्रेम-विभोर॥

श्रीराधिकाजी यों कह ही रही थीं कि उन्हें श्यामसुन्दरके दर्शन होने बंद हो गये, तब वे अकुला उठीं और बोलीं—'हैं, यह सहसा क्या हो गया ? श्यामसुन्दर कहाँ छिप गये ? हाय ! वे आनन्दनिधान मनमोहन मुझे क्यों नहीं दिखायी दे रहे हैं ? वे लीलामय क्या आज पुनः आँखमिचौनी खेलने लगे ? अथवा मैंने उनको तुम्हें दिखा दिया, इससे क्या उन्हें लाज आ गयी और वे कहीं छिप गये ?'

हैं, यह क्या ? सहसा वे कैसे, कहाँ हो गये अन्तर्धान?
हाय, क्यों नहीं दीख रहे मुझको मनमोहन मोदनिधान?
आँखमिचौनी लगे खेलने क्या वे लीलामय फिर आज?
दिखा दिया मैंने तुमको, क्या इससे उन्हें आ गयी लाज?

'नहीं, नहीं ! तब क्या वे सचमुच ही मुझे छोड़कर चले गये ? हाय ! क्या वे मुझसे मुख मोड़कर मुझे अपरिमित अभागिनी बनाकर चले गये ? हाय उद्धव ! तुम सच कहते हो, तुम सत्य संदेश सुनाते हो ! वे चले गये ! हा ! वे मेरे लिये रोना शेष छोड़कर चले गये।'

नहीं, नहीं ! तब क्या वे चले गये सचमुच ही मुझको छोड़।
मुझे बनाकर अमित अभागिन हाय गये मुझसे मुख मोड़॥
सच कहते हो उद्धव ! तुम, हो सत्य सुनाते तुम संदेश।
चले गये, हा ! चले गये वे, छोड़ गये रोना अवशेष॥

'पर ऐसा कैसे होता ? जो पल-पलमें मुझे अपलक नेत्रोंसे देखा करते, जो मुझे सुखमय देखनेके लिये बड़े

सुखसे मान-अपमान, स्तुति- निन्दा, हानि-लाभ, सुख-दुःख—सब सहते, मेरा दुःख जिनके लिये घोर दुःख और मेरा सुख ही जिनका आत्यन्तिक सुख था, वे मुझे दुःख देकर कैसे अपने जीवन-सुखको खो देते ? अतएव वे गये नहीं हैं। यहीं छिपे होंगे !'

प्रतिपल जो अपलक नयनोंसे मुझे देखते ही रहते।
सुखमय मुझे देखनेको जो सभी द्वन्द्व सुखसे सहते॥
मेरा दुःख दुःख अति उनका, मेरा सुख ही अतिशय सुख।
वे कैसे मुझको दुख देकर खो देते निज जीवन-सुख॥

इतना कहते-कहते ही राधाका भाव बदला। उनके मुखपर हँसी छा गयी और उल्लसित होकर वे कहने लगीं—'हाँ ठीक, वे चले गये। मुझे परम सुख देनेके लिये ही वे मथुरामें जाकर बसे हैं। मैं इसका रहस्य समझ गयी। मैं सुखी हो गयी, मुझे सुख देनेवाले प्रियतमके इस कार्यको देखकर, मुझे वे सब पुरानी बातें याद आ गयीं जो मुझमें-उनमें हुआ करती थीं। उनके जानेका कारण मैं जान गयी। वे मुझे सुखी बनानेके लिये ही गये हैं। इसीसे देखो, मैं कैसी प्रफुल्लित हो रही हूँ—मेरा अङ्ग-अङ्ग आनन्दसे किस प्रकार रोमाञ्चित हो रहा है।'

मुझे परम सुख देनेको ही गये मधुपुरीमें बस श्याम।
समझ गयी, मैं सुखी हो गयी, निरख सुखद प्रियतमका काम॥
याद आ गयी मुझको सारी मेरी-उनकी बीती बात।
जान गयी कारण, इससे हो रही प्रफुल्लित, पुलकित-गात॥

'बताऊँ, क्या बात है ? मुझमें न तो कोई सद्गुण था न कोई रूप-माधुरी ही। मैं दोषोंकी खान थी। पर मोहविवश होनेके कारण मनमोहन श्यामसुन्दरको मुझमें सौन्दर्य दिखलायी देता और वे मुझे अपना सर्वस्व—तन-मन-धन देकर मुझपर न्योछावर हुए रहते ! वे बुद्धिमान् होकर, मोहवश मुझे 'मेरी प्राणेश्वरी'-'मेरी हृदयेश्वरी' कहते-कहते कभी थकते ही नहीं। मुझे इससे बड़ी लज्जा आती, बड़ा संकोच होता। मैं बार-बार उन्हें समझाया करती—'प्रियतम ! तुम इस भ्रमको छोड़ दो।' पर मेरी बात मानना, तो दूर रहा, वे तुरंत मुझे हृदयसे लगा लेते, मेरे कण्ठहार बन जाते, मैं उन्हें अपने गलेसे लिपटा हुआ पाती। मैं गुणसे, सौन्दर्यसे रहित थी, प्रेमधनसे दरिद्र थी, कला-चतुरतासे हीन थी, मूर्खा, बहुत बोलनेवाली, झूठे ही मान-मदसे मतवाली, मन्दमति तथा मलिन स्वभावकी थी। मुझसे बहुत-बहुत अधिक सुन्दरी, सद्गुण-शीलवती, सुन्दर रूपकी भंडार अनेकों सुयोग्य सखियाँ थीं, जो प्रियतमको अत्यन्त सुख देनेमें समर्थ थीं। मैं, उनके नाम बता-बताकर प्रियतमको उनसे स्नेह करनेके लिये कहती, परंतु वे कभी भूलकर भी उनकी ओर नहीं ताकते और सबसे अधिक—अधिक क्यों, वे प्रियतम सारा ही प्यार सब ओरसे, सब प्रकारसे, अनन्यरूपसे केवल मुझको ही देते। इस प्रकार प्रियतमका बढ़ा हुआ व्यामोह देखकर मुझे बड़ा संताप होता और मैं देवतासे मनाया करती कि 'हे प्रभो ! आप उनके इस मोहको शीघ्र हर लें।' मेरा बड़ा सौभाग्य है कि देवताने मेरी करुण पुकार सुन ली। मेरे प्राणनाथ मोहनका मोह आखिर मिट गया और अब वे मथुरामें अपार आनन्द प्राप्त कर रहे होंगे। मेरे प्राणाराम वे किसी नगरनिवासिनी चतुर सुन्दरीको प्राप्त करके अनुपम सुख भोग रहे होंगे। मेरा मनोरथ पूर्ण हो गया। आज मैं परम सुखवती हो गयी। आज मेरे भाग्य खुल गये, जो मुझको आनन्द-मङ्गलमय, जीवनको सजानेवाला, सुखकी खानरूप श्यामसुन्दरका यह संदेश सुननेको मिला।'

सद्गुणहीन, रूप-सुषमासे रहित, दोषकी मैं थी खान।
मोहविवश मोहनको होता मुझमें सुन्दरताका भान॥
न्यौछावर रहते मुझपर सर्वस्व स-मुद कर मुझको दान।
कहते थकते नहीं कभी 'प्राणेश्वरि !' 'हृदयेश्वरि ?' मतिमान॥
'प्रियतम ! छोड़ो इस भ्रमको तुम'—बार-बार मैं समझाती।
नहीं मानते, उर भरते, मैं कण्ठहार उनको पाती॥
गुण-सुन्दरता-रहित, प्रेमधन-दीन, कला-चतुराई-हीन।
मूर्खा, मुखरा, मान-मद-भरी मिथ्या, मैं मतिमन्द मलीन॥
मुझसे कहीं अधिकतर सुन्दर सद्गुण-शील-सुरूप-निधान।
सखी अनेक योग्य, प्रियतमको कर सकतीं अतिशय सुख-दान॥
प्रियतम कभी, भूलकर भी, पर नहीं ताकते उनकी ओर।
सर्वाधिक क्यों, प्यार मुझे देते अनन्य प्रियतम सब ओर॥
रहता अति संताप मुझे प्रियतमका देख बढ़ा व्यामोह।
देव मनाया करती मैं, 'प्रभु ! हर लें सत्वर उनका मोह'॥

× × × ×

मेरा अति सौभाग्य, देवने सुन ली मेरी करुण पुकार।
मिटा मोह मोहनका, अब वे प्राप्त कर रहे मोद अपार॥
पाकर सुन्दर चतुरा किसी नागरीको वे प्राणाराम।
भोग रहे होंगे अनुपम सुख, पूर्ण हुआ मेरा मन-काम॥
परम सुखवती आज हुई मैं, खुले भाग्य मेरे हैं आज।
सुना श्याम-संदेश सुखाकर, मुद-मङ्गलमय, जीवन-साज॥

यह कहते-कहते ही पुनः भावमें परिवर्तन हो गया। वे दृढ़तापूर्वक बोलीं—'नहीं, नहीं, प्रियतमसे ऐसा काम कभी हो ही नहीं सकता। मुझसे कभी पृथक् होना उनके लिये सम्भव ही नहीं। मेरा और उनका ऐसा सुन्दर, प्रिय और अनन्य— अनोखा सम्बन्ध है, जो कभी मिट ही नहीं सकता। मुझे छोड़कर 'वे' और उनको छोड़कर 'मैं' कभी रह ही नहीं सकते। एकके बिना दूसरेका अस्तित्व ही नहीं है। वे मैं हूँ, मैं वे हैं। दोनों एक तत्त्व हैं। दोनों सब प्रकारसे एकरूप ही हैं।

नहीं, नहीं ! ऐसा हो सकता नहीं कभी प्रियतमसे काम।
मेरा-उनका अमिट अनोखा प्रिय अनन्य सम्बन्ध ललाम॥
मुझे छोड़ 'वे' उन्हें छोड़ 'मैं' रह सकते हैं नहीं कभी।
'वे मैं' 'मैं वे'—एक तत्त्व हैं—एकरूप हैं भाँति सभी॥

राधा यों कह ही रही थीं कि उन्हें श्यामसुन्दर सहसा दिखायी दिये। वे बोल उठीं—'अरे, अरे, उद्धव ! देखो, वे सुजान फिर प्रकट हो गये हैं। कैसा मनोहर रूप है, कैसी सुन्दर प्रेमपूर्ण दृष्टि है। अधरोंपर मृदु मुसकान खेल रही है। ललित त्रिभङ्ग-मूर्ति है। घुँघराले कुटिल केश हैं। सिरपर मोर-मुकुट तथा कानोंमें कमनीय कुण्डल झलमला रहे हैं। मुरलीधरने अधरोंपर मुरली धर रखी है और उससे मधुर तान छेड़ रहे हैं।

अरे-अरे उद्धव ! देखो, वे पुनः प्रकट हो गये सुजान।
प्रेमभरी चितवन सुन्दर, छायी अधरोंपर मृदु मुसुकान॥
ललित त्रिभङ्ग, कुटिल कुन्तल, सिर मोर-मुकुट, कल कुण्डल कान।
धर मुरली मुरलीधर अधरोंपर हैं छेड़ रहे मधु तान॥

यों कहकर राधा समाधिमग्न-सी एकटक देखती निस्तब्ध हो गयीं। इस प्रकार प्रेम-सुधा-समुद्र श्रीराधामें विविध विचित्र तरङ्गोंको उछलते देखकर उद्धव अत्यन्त विमुग्ध हो गये। उनके सारे अङ्ग सहसा विवश हो गये। उनको अपने शरीरकी सुधि नहीं रही। उनके हृदयमें नयी-नयी उत्पन्न हुई शुभ प्रेम-नदीमें अकस्मात् बाढ़ आ गयी। कहीं ओर-छोर न रहा। वे आनन्दमग्न होकर भूमिपर लोटने लगे और उनका सारा शरीर शुभ राधा-चरण-स्पर्श-प्राप्त व्रजधूलिसे धूसरित हो गया।

प्रेम-सुधा-सागर राधामें उठतीं विविध विचित्र तरङ्ग।
देख विमुग्ध हुए उद्धव अति, बरबस विवश हुए सब अङ्ग॥
उदित नवीन प्रेम-सरिता शुभ बढ़ी अचानक, ओर न छोर।
भू-लुण्ठित, तन धूलि धूसरित शुचि, उद्धव आनन्दविभोर॥

× × × ×

इस प्रकार अभिन्नस्वरूपा होनेपर भी श्रीराधारानी अपनेको प्रियतम श्यामसुन्दरके सुखसे वञ्चित करके उनका सुख चाहती हैं। उनका सारा श्रीकृष्णानुराग, श्रीकृष्णसेवन श्रीकृष्णसुखके लिये ही है। वे जब यह सोचती हैं कि श्रीकृष्णको मुझसे वह सुख नहीं मिलता, जो अन्यत्र मिल सकता है तो वे देवताको मनाती हैं कि श्रीकृष्ण मुझको छोड़कर अन्यत्र सुख प्राप्त करें।

उनकी सखी गोपियाँ भी श्रीराधा-श्यामसुन्दरके सुखसम्पादनमें ही नित्य लगी रहती हैं। वे कभी श्यामसुन्दरसे मिलती भी हैं तो उनके रसास्वादनकी वृद्धिके लिये ही, स्वसुखके लिये नहीं। इसी प्रकार जिनमें नवप्रीतिभावका प्रस्फुटन हुआ है, तुलसी-मञ्जरीकी भाँति अथवा नवोद्गत पल्लवके अग्रभागके सदृश जो नवीन रसभावयुक्त हैं, वे मञ्जरीगण भी नित्य-निरन्तर श्रीश्यामा-श्याम-युगलके सुखसम्पादन अथवा प्रीतिवहनमें ही अपनेको कृतार्थ मानती हैं। उनमें तनिक भी निज-सुख-भोगका न तो प्रलोभन है, न दूसरेका सुख-सौभाग्य देखकर ईर्ष्याजनित जलन है।

एक बार श्रीराधिकाजीने मणिमञ्जरीके प्रेम-भावका आदर्श देखनेके लिये एक सखीको उनके पास भेजकर उसीकी ओरसे यह कहलवाया—'सखी ! श्रीललिता, विशाखा आदि श्रीराधा-माधवकी सेवामें सखीभावसे तो रहती ही हैं। कभी-कभी वे नायिकाके रूपमें भी श्यामसुन्दरके समीप पधारती हैं। तुम भी इसी प्रकार श्रीकृष्णके समीप जाकर उन्हें सुख प्रदान करो और स्वयं उनसे सुख प्राप्त करो। श्रीकृष्ण-मिलनके समान सुखकी कहीं तुलना तो दूर रही, तीनों लोकों और तीनों कालोंमें उसकी कल्पना भी नहीं की जा

सकती। तुम्हारा रूप-गुण, सौन्दर्य-माधुर्य, चातुर्य—सभी विलक्षण हैं, अतएव तुम इस परमानन्दसे वञ्चित क्यों रहती हो ? श्यामसुन्दरके समीप जाकर उनका प्रत्यक्ष सेवानन्द प्राप्त करो।' इस बातको सुनकर मणिमञ्जरीने उक्त सखीसे कहा—'बहन ! कल्याणमयी श्रीराधा श्रीश्यामसुन्दरके साथ मिलकर जो सुख प्राप्त करती हैं, वही मेरे लिये मेरे अपने मिलनसे अनन्तगुना अधिक सुख है। मैं अपने लिये दूसरे किसी सुखकी कभी कल्पना ही नहीं कर सकती। तुम मुझे क्यों भुलाती हो ? मुझे तो तुम भी यही वरदान दो कि मैं श्रीराधा-माधवके मिलन-सुखको ही नित्य-निरन्तर अपना परम सुख मानूँ और उसी पवित्र कार्यमें अपने जीवनका एक-एक क्षण लगाकर अनिर्वचनीय और अचिन्त्य सुख प्राप्त करती रहूँ ! यही प्रेमकी महिमा है।

इसीसे इस पवित्र सर्वत्यागमय प्रेमकी तुलनामें इन्द्रका पद, ब्रह्माका पद, सार्वभौम साम्राज्य, पातालका राज्य, योगसिद्धि एवं मोक्षपर्यन्त सभी नगण्य हैं, क्योंकि उन सभीमें 'स्व-सुख-कामना'का किसी-न-किसी अंशमें अस्तित्व है, पूर्ण त्याग नहीं है। इस पूर्ण त्यागको ही परम आदर्श माननेवाला मानव त्यागके मार्गमें अग्रसर होकर परम प्रेम और परमानन्दको प्राप्त करके धन्य होता है।

घर, पड़ोस, गाँव, देश, विश्व, विश्वात्मा और सबके मूल-स्वरूप सर्वाधार, सर्वमय, सर्वातीत भगवान्‌के लिये जितना-जितना ही त्याग होता है, उतना-उतना ही भोगासक्ति, प्राणिपदार्थोंका ममता, विषयकामना, मिथ्या अहंकारका नाश होकर दिव्य प्रेम प्राप्त होता है और उतना-उतना ही दिव्य मधुर अनन्त आनन्द बढ़ता है। इसीसे भक्तोंने प्रेमको पुरुषार्थ-चतुष्टयके मोक्षसे भी उच्चतम पञ्चम पुरुषार्थ बताया है।

मानवके लिये इसीसे परम कर्तव्य है—सर्वत्याग। त्यागका अनिवार्य फल है—त्यागमय अनन्यप्रेम और त्यागमय प्रेमका ही परिणाम है—विशुद्धतम दिव्य आनन्द !

भक्तिकी महिमा

(डॉ॰ श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी, डी॰ लिट्॰)

इच्छारहित होनेकी इच्छा सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है। इसीसे भक्तजन मोक्षप्राप्तिकी इच्छा न करके प्रभुमय जगत्‌का सेवक होनेके लिये निरन्तर साधना करते हैं, यथा—

सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं॥

तथा—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

भक्तिमें आदिसे अन्ततक इष्टदेवके प्रति पूर्ण समर्पणका भाव रहता है। भक्तिकी अन्तिम स्थिति निष्कामता है और उसका प्राप्तव्य है प्रभुकी अहैतुकी कृपा, जिसका लक्षण है मनका अपने-आप सुशीलताकी ओर ढल जाना—

'हौं अपनायौ तव जानि हौं जब मन फिरि परिहै।'

पूर्ण समर्पणके बिना एवं अहंकारके सर्वतोभावेन तिरोभावके अभावमें न प्रेम किया जा सकता है और न भक्ति-मार्गका अवलम्बन ही। भक्तवर नागरीदासके शब्दोंमें—

शीश काटि मुँह पर धरै, तापर रक्खै पाँउ।
इाथ चमन के बीचमें ऐसा होइ तौ आउ॥

ज्ञान-मार्गका आधार विरति-विवेक है। अधिक तर्क और युक्तिके साम्राज्यमें विवेकके बाधित हो जानेकी आशङ्का सदैव विद्यमान रहती है। इसी कारण ज्ञान-मार्ग दुस्तर, दुष्कर एवं दुःसाध्य माना जाता है—

कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥

इसीसे—

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥

योग-साधनाका मार्ग भी इतना ही कठिन है। योगाभ्यासका आधार इन्द्रिय-निग्रह एवं बलपूर्वक आत्म-ज्योतिको जगाना है। कारण, शरीरमें प्रज्ञा प्रतिष्ठित होनेके फलस्वरूप तथा हृदय-चक्रमें प्राणके प्रविष्ट होनेपर योगमार्गमें बुद्धिके द्वारा आन्तरिक एकता अथवा पूर्ण संश्लेषणात्मक चेतनाकी उपलब्धि होती है। इस मार्गमें भी साधकके हतोत्साहित एवं विचलित हो जानेकी आशङ्का पग-पगपर विद्यमान रहती है, परंतु भक्तिके अन्तर्गत आत्मदैन्यका निवेदन एवं अदृश्य सत्ताके प्रति समर्पणका भाव रहता है। भक्तिकी

रसात्मक अनुभूतिके अन्तर्गत अखिल विश्वमें ब्रह्मकी व्यक्त प्रवृत्तिका सरस आभास प्राप्त होता है। भक्तको विश्वात्माकी झाँकीका निदर्शन विश्वके कण-कणमें प्राप्त होता है। संत कबीरदासने भक्तिको सामान्य ज्ञानका चरम फल और परम ज्ञानका हेतु बताया है—

संतो भाई ! आई ज्ञानकी आँधी।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी, माया रहे न बाँधी॥
हित-चित की द्वै थून गिरानी, मोह-बलीड़ा तूटा।
तिसना छान परी धरि ऊपर, कुबुधिका भाँड़ा फूटा॥
आँधी पाछे जो जल ऊठा, प्रेम हरी-जन भीना।
कहै कबीर भान के प्रकटे, तुरत भया तम छीना॥

भक्तको न अपनी सत्ताका अनुभव होता है, न अपनी साधनशीलताका गर्व और न किसी प्रकारके फलकी कामना ही होती है। भक्ति स्वार्थवश या भयके कारण नहीं की जाती। भक्तको भक्तिके बदलेमें न भुक्ति चाहिये और न मुक्ति। उसे तो केवल भक्तिका वरदान चाहिये। भक्त भगवान्‌की भक्ति इसलिये करता है, क्योंकि उसे भगवान्‌का अनन्त सौन्दर्य एवं शील-समन्वित लोक-रञ्जनकारी रूप प्रिय लगता है। बन्धुत्व एवं भक्तिभावसे पूर्ण भरतजीकी एक ही चाह है—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥

भगवान्‌का निवास-स्थान निष्काम-भक्तका प्रेमपूरित हृदय है। महर्षि वाल्मीकिका कथन प्रमाण है—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

श्रीमद्भागवतमें भ्रमरगीत-प्रसंगके अन्तर्गत 'उद्धव-गोपी-संवाद'के माध्यमसे प्रेम-तत्त्वका निरूपण प्रतीकात्मक शैलीमें किया गया है। गोपियाँ ज्ञान एवं योगको प्रेम-भक्तिके मार्गमें बाधक मानती हैं। वे श्रीकृष्णके प्रति सर्वस्व समर्पण करके उपराम हो जाती हैं। उनका प्रेम अपनी समस्त चञ्चल प्रवृत्तिका परित्याग करके शान्त आराधनामें परिणत हो जाता है और वे प्रियदर्शनका आग्रह भी छोड़ देती हैं—

जहाँ जहाँ रहौ राज करो सुख सों, लेउ कोटि सिर भार।
सूरस्याम हम देत असीस हैं, न्हात खसै जनि बार॥

ज्ञान-मार्तण्डसे झुलसे हुए उद्धव व्रजमें पहुँचकर गोपियोंकी श्रीकृष्ण-भक्तिकी सुधावृष्टिसे सरस तथा सुहृष्ट हो उठते हैं—

सुनि गोपिन को प्रेम नेम उद्धव को भूल्यौ।
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजन में फूल्यौ॥

कविकी मान्यताके अनुसार यह ज्ञान-रूप उद्धवपर भक्तिरूपा व्रज-वल्लभियोंकी विजय है। उद्धव गये तो थे गोकुलकी गँवारी गोपियोंको ज्ञानका उपदेश देने, परंतु लौटकर आते हैं प्रेम-भक्तिके रंगमें सराबोर होकर। उनके मथुरा लौटकर आनेपर श्रीकृष्ण व्यङ्ग्य-भावसे उनकी इस विवशता-की ओर इङ्गित करते हैं—

प्रेम-विह्वल ऊधौ गिरे रहे नयन जल छाय।
पोंछि पीत पट सों कह्यौ आये जोग सिखाय॥

वास्तवमें उद्धव पराजित नहीं होते हैं, अपितु उनकी चेतनाका विकास होता है। वह विश्लेषणपरक ज्ञानकी केंचुलिका परित्याग करके संश्लिष्ट चेतनारूपी भक्तिकी भागीरथीमें अवगाहन करके कृतकृत्य हो जाते हैं।

भक्ति-मार्गका पथिक विश्वके कण-कणके साथ आत्मीयताका अनुभव करता है तथा जीवमात्रका कष्ट निवारण करनेके लिये सदैव तत्पर रहता है। भगवान्‌की भक्ति और सेवा-धर्म वस्तुतः पर्यायवाची हैं। स्वयं भगवान्‌का कथन है—

सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह कें द्विज पद प्रेम॥

भक्तिकी साधना एक अनवरत प्रवहमान प्रक्रिया है। भक्त अपने प्रभुकी इच्छा-शक्तिको प्रवाहित करनेका माध्यम बननेके लिये निरन्तर प्रयत्नशील बना रहता है। भक्तिकी विशेषता यह है कि वह भक्तको इच्छावान् बनाकर भी इच्छा-जन्य बन्धनोंसे मुक्त रखती है।

'धनकी प्राप्तिके उद्देश्यसे कार्य करनेपर मन संसारमें रम जाता है, इसलिये सांसारिक कार्य बड़ी सावधानीके साथ केवल भगवत्प्रीतिके लिये ही करना चाहिये। इस प्रकारसे भी अधिक कार्य न करे, क्योंकि कार्यकी अधिकतासे उद्देश्यमें परिवर्तन हो जाता है।'

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[सर्वभूतहिते रताः]

परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें मुख्य बाधा है—संयोगजन्य सुखकी आसक्ति, प्रियता। जितने भी संयोगजन्य सुख हैं, वे केवल दुःखोंके कारण हैं—**'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'** (गीता ५। २२)। संयोगजन्य सुखकी आसक्तिसे ही संसारके दुःख पैदा होते हैं। अगर संयोगजन्य सुखकी इच्छा न हो तो दुःख कभी हो ही नहीं सकता। किसी चीजके अभावसे दुःख नहीं होता, प्रत्युत सुखकी इच्छासे ही दुःख होता है। अगर संयोगजन्य सुखकी इच्छा मिट जाय तो 'योग' हो जायगा। संयोगजन्य सुखसे अतीत जो महान् सुख है, जिसमें दुःखोंके संयोगका सर्वथा वियोग है, उसको 'योग' कहते हैं—**'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्'** (गीता ६। २३)। सम्बन्धजन्य सुखका भीतरसे ही त्याग हो जाय अर्थात् उसकी इच्छाका, वासनाका, आशाका, तृष्णाका त्याग हो जाय तो उस योगकी सिद्धि स्वतः हो जायगी।

पतञ्जलि महाराजने कहा है कि चित्तकी सम्पूर्ण वृत्तियोंके निरोधका नाम 'योग' है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** (योगदर्शन १। २) वह योग सविकल्प भी होता है और निर्विकल्प भी होता है। चित्तकी एकाग्र-भूमिमें भी योग होता है और निरुद्ध-भूमिमें भी होता है। निर्विकल्प योग, निरुद्धभूमिका योग असली होता है। इससे पहले चित्तकी पाँच भूमिकाएँ हैं—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। जब निरुद्ध-भूमिमें योग होता है, तब द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थिति होती है—**'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** (योगदर्शन १। ३)। इस तरह पतञ्जलि महाराजने योगका जो फल बताया है, उसीको गीता योग कहती है। गीताने समताको 'योग' कहा है—**'समत्वं योग उच्यते'** (२। ४८)। समता क्या है ? **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** (५। १९)। समता नाम ब्रह्मका है। जो निर्दोष और सम है, उसको ब्रह्म कहते हैं। उस ब्रह्ममें स्थितिको गीता 'योग' कहती है। ब्रह्ममें स्थिति कैसे हो ? दुःखोंके संयोगका वियोग हो जाय (६। २३)। दुःखोंके संयोगका वियोग कैसे हो ? संयोगजन्य सुखकी इच्छाका त्याग हो जाय।

गीताका योग नित्ययोग है; क्योंकि परमात्माके साथ नित्य सम्बन्ध है, अखण्ड सम्बन्ध है। चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका जो योग है, वह नित्ययोग नहीं है। वह योग तो तबतक है, जबतक वृत्तियाँ निरुद्ध हैं। वृत्ति बाह्य हो जायगी तो उस योगसे व्युत्थान हो जायगा। समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ होंगी। परंतु जब दुःखोंके संयोगका वियोग हो जायगा, तब दो अवस्थाएँ नहीं होंगी, प्रत्युत सदाके लिये अखण्ड योग हो जायगा।

विचार करें, चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेसे परमात्मतत्त्वमें जो स्थिति होती है, वह क्या निरोध करनेसे पहले नहीं है ? जब-तक चित्तवृत्तियोंका निरोध नहीं होता, तबतक परमात्मा नहीं है क्या ? परमात्मा तो चञ्चल-से-चञ्चल वृत्तिमें भी हैं। वे मूढ़-वृत्तिमें भी हैं और क्षिप्त-वृत्तिमें भी हैं। वे परमात्मा सब देशमें, सब कालमें, सम्पूर्ण वस्तुओंमें, सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें, सम्पूर्ण घटनाओंमें, सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें हैं। केवल संयोगजन्य सुखसे विमुख होते ही उनका अनुभव हो जाता है। जबतक संयोगजन्य सुखकी इच्छा रहेगी, वासना रहेगी, तबतक हमारी वृत्ति जड़ताकी तरफ रहेगी, हमारे भीतर जड़ताका महत्त्व रहेगा। जड़ताका महत्त्व रहनेसे चिन्मय-तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी, नित्य-प्राप्त परमात्माका अनुभव नहीं होगा। जब संयोगजन्य सुखसे बिलकुल उपरत हो जायँगे, तब वह योग सिद्ध हो जायगा अर्थात् परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जायगा।

संयोगजन्य सुखसे उपरत कैसे हों ? इसके लिये गीताने बताया कि सब काम दूसरोंके लिये करे, अपने लिये कुछ नहीं। और तो दूर रहा, जप-ध्यान भी अपने लिये नहीं, समाधि भी अपने लिये नहीं। कारण कि शरीरकी, इन्द्रियोंकी, मन-बुद्धिकी, अहंकी सजातीयता संसारके साथ है, अपने स्वरूपके साथ नहीं। अतः शरीर आदिके द्वारा अपना हित चाहना गलती है। ये तो संसारके हैं और इनको संसारकी ही सेवामें लगा देना है। हमारे पास जो कुछ है, वह सब संसारसे

मिला है और संसारसे मिला हुआ होनेपर भी संसारसे अभिन्न है। आप शरीरको अपना मानते हो, पर अपना माननेपर भी शरीर आपका हुआ नहीं है। वह तो संसारका ही है। शरीरकी संसारके साथ अभिन्नता है, अतः इसको संसारकी सेवामें लगा देना है। आपकी अभिन्नता परमात्माके साथ है, अतः अपने-आपको परमात्मामें लगा देना है। शरीरको संसारकी सेवामें लगाना 'कर्मयोग' हो गया, अपनेको शरीर—संसारसे अलग मानना 'ज्ञानयोग' हो गया और अपनेको परमात्मामें लगाना 'भक्तियोग' हो गया।

केवल संसारकी इच्छा छोड़ देनेसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। हम संसारसे कुछ नहीं चाहते तो उसके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि संसारके साथ हमारा सम्बन्ध है ही नहीं। सुखकी चाहनासे ही संसारसे सम्बन्ध जुड़ता है और सुखकी चाहना मिटनेसे स्वतः सम्बन्ध टूट जाता है। अतः सुख लेनेकी चीज नहीं है, प्रत्युत देनेकी चीज है। हम सुख लेनेके लिये संसारमें आये ही नहीं। केवल सुख देनेके लिये, सेवा करनेके लिये यहाँ आये हैं। इसलिये सबको सुख कैसे हो? सबका हित कैसे हो? सबकी सेवा कैसे बने?—ऐसी लगन लग जाय। जैसे लोभीको रुपयोंकी लगन लगती है, कामीको स्त्रीकी लगन लगती है, मोहीको परिवारकी लगन लगती है, विद्यार्थीको विद्याध्ययनकी लगन लगती है, ऐसे ही लगन लग जाय कि सब लोग सुखी कैसे हों? सबको आराम कैसे मिले? प्राणिमात्रके हितमें रति, प्रीति हो जाय—**'सर्वभूतहिते रताः'** (गीता ५। २५, १२। ४)। सबके हितमें रति होनेसे अपने सुखभोगकी इच्छा नहीं रहेगी।

जबतक संयोगजन्य सुखकी इच्छा रहती है, तबतक मनुष्य परमात्मासे बिलकुल विमुख रहता है। कारण कि संयोगजन्य सुख प्रकृतिका है और उत्पत्ति-विनाशशील है। इससे उपराम होनेपर परमात्माका सुख मिलता है। इसलिये प्राणिमात्रके हितमें प्रीति होनी चाहिये। सबका हित एक आदमी कर सकता है क्या? सब मिलकर एक आदमीकी भी इच्छा-पूर्ति नहीं कर सकते, तो फिर एक आदमी सबकी इच्छापूर्ति कैसे करेगा? वास्तवमें इच्छापूर्तिसे मतलब नहीं है। समय, सामग्री, सामर्थ्य आदि जो कुछ हमारे पास है, उसको दूसरोंके हितमें लगानेके लिये निरन्तर प्रस्तुत रहे, हरदम तैयार रहे। इससे हमारे पास जितनी चीजें हैं, उनका प्रवाह संसारकी तरफ हो जायगा और हमारा प्रवाह जड़तासे हटकर चिन्मयताकी तरफ हो जायगा तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी।
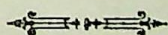
दीनता

(पं० श्रीमूलनारायणजी मालवीय)

दीनता, दरिद्रता और निर्धनता इत्यादि ऐसे जितने शब्द हैं, उन सबका प्रायः एक ही अर्थ है। वास्तवमें दरिद्रता बुरी वस्तु है। देखा गया है गरीबका अपना भी पराया हो जाता है, कहीं उसका आदर नहीं होता। पग-पगपर उसे अपमानित होना पड़ता है। निर्धनका जीवन कष्टमय होता है। **'कष्टं निर्धनजीवनम्'**, **'सर्वशून्यं दरिद्रता'**, ***'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं'*** आदि कहावतें यहाँ पूर्णरूपसे चरितार्थ होती हैं। दूसरी ओर धनवान्का आदर सर्वत्र होता है और दूसरे भी उसके सगे हो जाते हैं। अगस्त्यजीने लक्ष्मीजीकी स्तुति करते हुए लक्ष्मीवान्का चित्र बड़े अच्छे ढंगसे चित्रित किया है—

लक्ष्मि त्वयालङ्कृतमानवा ये
पापैर्विमुक्ता नृपलोकमान्याः।
गुणैर्विहीना गुणिनो भवन्ति
दुःशीलिनः शीलवतां वरिष्ठाः॥

'लक्ष्मी! तुमसे अलङ्कृत मनुष्य पाप अर्थात् दुःखसे मुक्त होते हैं, राजदरबारमें और लोकमें आदर पाते हैं। गुणहीन होते हुए भी गुणवान् माने जाते हैं और बुरे स्वभावके होते हुए भी शीलवानोंमें श्रेष्ठ गिने जाते हैं।'

यह अक्षरशः सत्य है कि दीनजनोंकी बड़ी दुर्गति होती है, उन्हें अनेक प्रकारकी यातनाएँ सहनी पड़ती हैं, किंतु दीनजनोंका एक सहायक दीनबन्धु, दीनानाथ, दीनदयालु होता है। श्रीमद्भागवतमें देवर्षि नारदजीने दीनोंके सम्बन्धमें यह कहा है कि—

दरिद्रो निरहंस्तम्भो मुक्तः सर्वमदैरिह ।
कृच्छ्रं यदृच्छयाऽऽप्नोति तद्धि तस्य परं तपः ॥
नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य दरिद्रस्यान्नकाङ्क्षिणः ।
इन्द्रियाण्यनुशुष्यन्ति हिंसापि विनिवर्तते ॥
दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः ।
सद्भिः क्षिणोति तं तर्षं तत आराद् विशुद्ध्यति ॥
(१०।१०।१५-१७)

'दरिद्र पुरुषके मनमें 'मैं हूँ', 'मेरा है', इस प्रकारका अहंभाव नहीं रहता, वह सब प्रकारके मदोंसे मुक्त रहता है। उसे अनायास जो कष्ट मिलता है, वही उसका परम तप है। अन्नहीन दरिद्र पुरुषका शरीर क्षुधा सहनेसे निर्बल और क्षीण हो जाता है, इन्द्रियोंकी भी प्रबलता जाती रहती है, जिससे हिंसाकी प्रवृत्ति भी निवृत्त हो जाती है। समदर्शी साधुगण दरिद्रोंसे ही मिलते हैं। उन साधुओंके संगसे सब प्रकारकी तृष्णा त्यागकर दरिद्र पुरुष शीघ्र ही शुद्ध हो जाते हैं।'

देवर्षि नारदजीके उपर्युक्त शब्दोंमें जितना तथ्य है, वह प्रत्यक्ष है, पर दरिद्रतासे सभी डरते हैं। हाँ, कुछ ऐसे लोग भी हैं, जिनको दीनता प्रिय है। सहजोबाई गरीबीकी प्रशंसामें कहती हैं—

भली गरीबी नवनता, सके न कोई मार।
सहजो रुई कपासकी, काटे ना तरवार॥

यह ठीक है कि दीनतामें दुःख बहुत हैं, किंतु गरीब अपने सत्कर्तव्योंको करता हुआ सदाचार तथा संतोषके साथ जीवनयापन करता है, यही उसकी शोभा है। गरीबीके कारण धनवान् बननेकी लालसासे जो असत्-मार्गका अनुसरण करता है, वह पथभ्रष्ट होकर अधोगतिको प्राप्त होता है। दीनजनोंको चाहिये कि वे अपने प्रारब्धको बनायें। अच्छे-से-अच्छा भाग्य सत्कर्मोंसे बनता है और निष्काम सत्कर्मोंके द्वारा ही ईश्वरकी प्राप्ति होती है। दीनोंके लिये धैर्य ही उनके कष्टोंके काटनेका एकमात्र अस्त्र है। दुःख सहते हुए ईश्वरपर विश्वास रखना ही उनका परम तप है। प्रारब्ध बलवान् होता है, उसीके बन्धनमें बँधा जीव अपने किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप सुख-दुःखोंको भोगा करता है। ऐसी दशामें ईश्वरको छोड़कर गरीब क्यों इधर-उधर भटके, क्यों दूसरोंका मुँह देखे। रैदासजी तो दीनोंसे ज़ोर देकर यह कहते हैं कि—

हरि-सा हीरा छाँड़ि कै, करै और की आस।
सो नर जमपुर जायँगे, सत भाषै रैदास॥

रैदासजीसे भी जोरदार शब्दोंमें किसी कविने कहा है—

धीरज ना छोड़ो औ जाओ नहिं धाम धाम,
दीन वचन कहे नाहिं दीनता सरैगी।
चिंता ना करो चित्त, चातुरी न छाँड़ो मीत,
नीचनको नवाये सिर ना आपदा टरैगी॥
अधमनके आगे रहिये ना अधीन ह्वै कै,
सेखी के छाँड़ नाहिं संपदा जुरैगी।
जा दिन दीनानाथ हाथ छाया तरे छत्र धरैं
ता दिन प्रारब्ध आय पाँयन परैगी॥

वास्तवमें यह बिलकुल ठीक है कि कोई किसीको कुछ दे नहीं सकता, भले ही गरीब इधर-उधर दर-दरकी ठोकरें खाय। प्रारब्धका अन्न खलिहानसे स्वयं उठकर आ जाता है। यह देखा गया है कि जबतक मनुष्य किसीसे याचना नहीं क़रता, तभीतक सब कुछ है। माँगते ही मर्यादा नष्ट हो जाती है। विद्वानोंका मत है कि दूसरेके घर जाकर माँगनेसे अपना रहस्य प्रकट हो जाता है और अपमानित भी होना पड़ता है। रहीमजी कहते हैं कि—

'रहिमन' पर घर जायके दुःख न कहियो रोय।
अपनो भरम गँवायके बात न पूछै कोय॥

यह स्वतःसिद्ध है कि ईश्वर ही जब विश्वका भरण-पोषण करता है और यह भी प्रत्यक्ष है कि उससे की गयी याचना कभी निष्फल नहीं होती, फिर एकको छोड़कर अनेकोंके पास क्यों ठोकर खायँ। अकबरने बड़ी खूबसूरतीसे यह फरमाया है कि—

जो कुछ माँगना हो खोदासे माँग ऐ 'अकबर'।
यही वह दर है कि जिल्लत नहीं सवाल के बाद॥

इन्हीं सब बातोंको पढ़-सुनकर दीनजनोंको ईश्वरपर निष्ठा और विश्वास रखना चाहिये। ईश्वर ही सबका सुखदाता है और दीन हुए बिना वह किसीसे मिलता भी नहीं। जीवन उसीका सफल है, जो भगवान्‌का भक्त बनता है तथा ईश्वर-प्राप्तिका उपाय किया करता है। बड़े-बड़े सम्राट्, धनवान् और बलवान् ईश्वरकी कृपाकोरके अभिलाषी रहते हैं, फिर गरीब क्यों न गरीबनिवाजका आश्रय ग्रहण करे।

सुदामा दीन थे। घरमें न खानेको अन्न था, न तन ढाँकनेको वस्त्र ही। उनकी पत्नीने किसी धनवान्के पास धन माँगनेकी सलाह नहीं दी। उसने दीनबन्धु भगवान् श्रीकृष्णके पास यह कहकर पतिको भेजा कि—

हरिहैं दुख-दारिदके हर्ता, कर्ता सुखके सो कृपा करिहैं।
करिहैं यदुनाथ सनाथ जबै अघ ओघ सबै छनमें टरिहैं॥
टरिहैं मनके दुख औ दुबिधा जनके हिय तोष सुधा भरिहैं।
भरिहैं धन सों पिय भवन भँडार दरिद्र तुम्हार हरी हरिहैं॥

फिर जितना ही जिनके पास धन अधिक है, उतना ही उसका हृदय अधिक जलता रहता है। धनियोंके हृदयकी बात जाननेवालोंसे उनका अपार दुःख छिपा नहीं है। वास्तवमें संसारभरका ऐश्वर्य प्राप्त होनेपर भी प्राणी सुख-शान्ति प्राप्त नहीं करता। **'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'** (कठ० १। २७) सुख-शान्तिकी प्राप्ति तो संतोषसे होती है। विषयोंके त्यागका नाम ही संतोष है। इसीको भगवान् श्रीकृष्णने महारानी रुक्मिणीका संदेश ले जानेवाले ब्राह्मणसे कहा था—

असंतुष्टोऽसकृल्लोकानाप्नोत्यपि सुरेश्वरः।
अकिंचनोऽपि संतुष्टः शेते सर्वाङ्गविज्वरः॥
विप्रान् स्वलाभसंतुष्टान् साधून् भूपसुहृत्तमान्।
निरहंकारिणः शान्तान् नमस्ये शिरसा सकृत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ५२। ३२-३३)

'जो कोई बार-बार अभिलषित पदार्थ पाकर भी असंतुष्ट रहता है, वह इन्द्रकी पदवी पाकर भी सुख-शान्ति नहीं पा सकता, क्योंकि उसके मनमें संतोषरूपी वृक्षकी शीतल छाया नहीं है और जो दरिद्र होते हुए भी सुखसे अपना जीवन व्यतीत करते हैं, वे साधु हैं, सब प्राणियोंके परम बन्धु हैं, अहंकार-शून्य हैं और शान्त हैं। उन ब्राह्मणोंको सिर झुकाकर मैं बारंबार प्रणाम करता हूँ।' ये हैं भगवद्वाक्य, जो कभी मिथ्या नहीं हो सकते। इसी संतोषके सम्बन्धमें कहा गया है—

गोधन गजधन बाजिधन और रतन धन खान।
जब आवै संतोष धन सब धन धूरि समान॥

प्राणीकी एक ऐसी भी अवस्था होती है, जब उसका धन-बल, जन-बल और शरीर-बल भी काम नहीं देता। इसे भी दीनावस्था कहा जाता है। देखिये, जगदम्बा जानकीजीके हरणके समय रावणके हाथोंसे बूढ़ा जटायु आहत होकर पड़ा था, उस समय वह दीनकी तरह असहाय था। ऐसे अवसरोंपर दीनबन्धु ही कृपा किया करते हैं। किसीने बड़े अच्छे ढंगसे कहा है—

दीन मलीन अधीन है अंग बिहंग पर्‌यो छिति खिन्न दुखारी।
राघव दीनदयाल कृपालु कों देख दुखी करुणा भइ भारी॥
गीधको गोदमें राखि कृपानिधि नैन सरोजनमें भरि बारी।
बारहिं बार सुधारत पंख जटायुकी धूरि जटान सों झारी॥

द्रौपदीके पाँच बलवान् पति थे, किंतु जिस समय वह भरी सभामें दुर्योधनकी आज्ञासे वस्त्रविहीन की जा रही थी, उस समय उसने दीनकी तरह यह कहकर दीनबन्धु दीनानाथ-को पुकारा था—

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्॥

(महा० सभा० ६८। ४१-४३)

'हे गोविन्द! हे द्वारकावासी! हे सच्चिदानन्दस्वरूप प्रेमघन! हे गोपीजनवल्लभ! हे सर्वशक्तिमान् प्रभो! कौरव मुझपर जो अत्याचार कर रहे हैं, इस बातको क्या आप जानते नहीं हैं? हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे आर्तिनाशन जनार्दन! मैं कौरवोंके समुद्रमें डूब रही हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये। श्रीकृष्ण! आप सच्चिदानन्दस्वरूप महायोगी हैं। आप सर्वस्वरूप और सबके जीवनदाता हैं। हे गोविन्द! मैं कौरवोंसे घिरकर बड़े संकटमें पड़ गयी हूँ। आपकी शरण हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये।'

द्रौपदीकी ही तरह गजराजकी भी दयनीय दशा थी और वह भी दीनोंकी तरह यह कहकर चिल्लाया था—

यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्
प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भया-
न्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि॥

(श्रीमद्भा० ८। २। ३३)

'जो कोई सर्वसमर्थ ईश्वर अधिक बलवान् एवं बड़ी तीव्र गतिसे दौड़ रहे कालरूप भयङ्कर सर्पके भयसे घबड़ाये हुए, आपत्तिमें पड़े हुए प्राणीकी रक्षा करते हैं और जिनके डरसे काल अपने कार्यमें लगा हुआ है, मैं उन्हीं ईश्वरकी शरणमें हूँ।'

कहते हैं कि द्रौपदीकी पुकारकी तरह गजकी टेर भी खाली नहीं गयी। भगवान्ने अपने वाहनको छोड़कर शीघ्र-से-शीघ्र गजके पास पहुँचकर ग्राहको मारकर गजकी रक्षा की। गजकी टेर सुनते ही परमधाममें हलचल मच गयी—

पर्यङ्कं विसृजन् गणानगणयन् भूषामणिं विस्मर-
न्नुत्तानोऽपि गदागदेति निगदन् पद्मामनालोकयन्।
निर्गच्छन्नपरिच्छदं खगपतिं चारोहमाणोऽवतु
ग्राहग्रस्तमतङ्गपुङ्गवसमुद्धाराय नारायणः॥

ग्राहके चंगुलमें फँसे हुए गजराजका उद्धार करनेके लिये भगवान् श्रीहरि इतने उतावले हो उठे कि लक्ष्मीजीकी बिछायी हुई सुखदायिनी शय्याको भी तत्काल त्यागकर चल पड़े। सामने सेवाके लिये आये हुए पार्षदोंको भी कुछ नहीं गिना। गलेमें कौस्तुभमणि पहननेकी भी सुध न रही, उत्तान सोये थे, उसी दशामें 'गदा ! गदा !' कहते हुए सहसा उठकर खड़े हो गये। प्रियतमा लक्ष्मीकी ओर दृष्टि नहीं डाली। पक्षिराज गरुड़की पीठपर बिना गद्दी कसे ही सवार हो गये और बड़े वेगसे गजराजके पास जा पहुँचे।

इसलिये दीन होना बुरा नहीं है, क्योंकि इसी स्थितिमें दीनबन्धुकी कृपाका प्रसाद मिलता है, जो मदान्ध धनिकोंके लिये सर्वथा दुर्लभ है। यह सत्य है कि दरिद्रताके समान कोई बड़ा दुःख नहीं होता, किंतु 'निर्बलके बल राम' तो होते ही हैं। व्यासजीने तो सुस्पष्ट ही कहा है—

केचिद् वदन्ति धनहीनजनो जघन्यः
केचिद् वदन्ति गुणहीनजनो जघन्यः।
व्यासो वदत्यखिलवेदपुराणविज्ञो
नारायणस्मरणहीनजनो जघन्यः॥

श्रीमद्भागवतके वक्ता महाज्ञानी शुकदेव आदि संतों तथा तुलसीदास आदि भावुक भक्तोंका मूल सिद्धान्त यही है कि भगवान् दैन्य-ग्रहणकी साधनासे ही प्राप्त होते हैं। इसमें भावका दैन्य, स्वभावका विनय तथा सभी प्राणियोंके प्रति विनयकी भावना और ईश्वरदृष्टिके साथ-साथ भोग-त्याग भी आवश्यक है। जब राजा-महाराजाओंको राज्य-समृद्धिके मध्य रहते हुए भगवान्की प्राप्ति नहीं होती थी तो वे वानप्रस्थी बनकर भगवान्की शरण लेते थे—

मुनिबर जतनु करहिं जेहि लागी। भूप राजु तजि होहिं बिरागी॥

इसलिये जिन्हें संयोगवश दीनता प्राप्त हो गयी है, उन्हें अपनेको सौभाग्यशाली एवं भगवान्का विशेष कृपा-पात्र मानकर दैन्यभावसे स्मरण करते हुए साधनाको तीव्र करना चाहिये, इससे उन्हें भगवान्की प्राप्ति सहजमें ही सुलभ हो जायगी। उनकी दीनता दूषण न होकर तत्काल भूषण बन जायगी। केवल भगवान्को स्मरण न करना ही भगवत्प्राप्ति-में बाधक है। वास्तवमें जैसा कि उन्होंने स्वयं बलि, ब्रह्मा आदिसे कहा है कि 'मैं अपनेको ही प्राप्त करानेके लिये भक्तोंके ऐश्वर्यादिका हरण करता हूँ और जैसे-जैसे वे स्मरण करने लगते हैं, मैं उनके साथ सदा निवास करने लगता हूँ।' इसलिये देवर्षि नारद, योगीश्वर शुकदेव तथा सनकादि योगीजन अपने पास कुछ-न-कुछ रखकर स्मरण-ध्यानद्वारा भगवान्के नित्य सांनिध्यका ही सर्वोपरि आनन्द लेते हैं। अतः सभीको दैन्यभावसे नित्य-निरन्तर प्रसन्न-चित्तसे दीनबन्धु भगवान्का स्मरण करते रहना चाहिये।

'ऐसी चेष्टा करनी चाहिये, जिससे एकान्त स्थानमें अकेलेका ही मन प्रसन्नतापूर्वक स्थिर रहे। प्रफुल्लित चित्तसे एकान्तमें श्वासके द्वारा निरन्तर नाम-जप करनेसे ऐसा हो सकता है।'

'भगवत्प्रेम एवं भक्ति-ज्ञान-वैराग्य-सम्बन्धी शास्त्रोंको पढ़ना चाहिये।'

'एकान्त देशमें ध्यान करते समय चाहे किसी भी बातका स्मरण क्यों न हो, उसे तुरंत भुला देना चाहिये। इस संकल्प-त्यागसे बड़ा लाभ होता है।'

भागवतीय प्रवचन—२९

सब कुछ भूलकर प्रभुमें तन्मय हो जाओ

(संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

कष्ट सहते रहोगे तो संत बनोगे। विदुरजीकी भाँति बारह वर्ष तप करोगे तो सहनशक्ति आयेगी। सात्त्विक आहार करनेवाला ही सहनशक्ति प्राप्त कर सकता है। विदुरजीने बारह वर्ष भाजीका ही भोजन किया। तुम कम-से-कम बारह महीने भाजीपर रहोगे, तो सहनशक्ति पाओगे। सहनशक्ति तब आती है, जब आहार-विहार बहुत सात्त्विक हो। इस जीवका स्वभाव ही ऐसा है कि उसे जो कुछ मिला है, उतनेसे वह संतुष्ट नहीं होता। बुद्धि यदि ईश्वरमें स्थिर रखोगे, तो तुम सब कुछ सहन कर सकोगे और संतुष्ट भी रह सकोगे। विदुरजीने केवल भाजीमें ही संतोष माना और ईश्वरकी आराधना करते रहे।

अपमानसे विदुरजीको न तो दुःख हुआ और न ग्लानि। दुर्योधनने राजसभामें उनका अपमान किया। फिर भी वे क्रुद्ध नहीं हुए। विदुरजीने केवल भाजी ही तो खायी थी।

दुःख और क्रोधको पी जानेकी शक्ति सात्त्विक आहारसे ही प्राप्त होती है। सुखी होना है तो कम खाओ और गम खाओ। मनुष्य सब कुछ खा जाता है, किंतु गम नहीं खा सकता, क्रोध नहीं पचा सकता।

तुम्हारी कोई निन्दा करे तो उसे शान्तिसे सह लो। उस समय ऐसा मान लो कि वह निन्दक मुझे मेरे दोषोंका भान करा रहा है, मेरा पाप धो रहा है। कुछ लोगोंका स्वभाव ही ऐसा होता है कि निन्दारसमें डूबे बिना उनका खाना पचता ही नहीं है। इस जगत्ने किसीको नहीं छोड़ा, सभीकी निन्दा की। निन्दा करनेवालेपर क्रोध मत करो। ऐसा मानो कि इसमें भी प्रभुका ही कुछ संकेत है। भगवान् बड़े दुःखसे कहते हैं कि 'मानव-कल्याणके लिये मनुष्य-अवतार लेकर इस धरतीपर आया था, फिर भी लोगोंने मेरी निन्दा की।' विदुरजी भी अपमानमें प्रभुकी कृपाका ही अनुभव करते हैं।

विदुरजीने सोचा कि दुर्योधन मेरी निन्दा नहीं कर रहा है, अपितु उसके अंदर बसे हुए नारायण मुझे कौरवोंका कुसंग छोड़नेका आदेश दे रहे हैं। कौरवोंका कुसंग छोड़नेकी यह प्रभु-प्रेरणा है।

महापुरुष निन्दामें भी सारतत्त्व खोजते हैं। जो अच्छी वस्तुओंमें अच्छाई देखे वह साधारण वैष्णव है, परंतु जो बुरी वस्तुओंमें भी अच्छाई देखता है,वह उत्तम वैष्णव है। प्रतिकूल परिस्थितिमें भी वैष्णव प्रभुके अनुग्रहका ही अनुभव करता है। भगवान्ने सोचा कि यदि कौरवोंके साथ विदुरजी रहेंगे तो कौरवोंका विनाश न हो सकेगा। इसलिये विदुरजीको यह स्थान छोड़नेकी प्रभुने प्रेरणा दी।

रामायणमें रावणने विभीषणका और भागवतमें दुर्योधनने विदुरजीका अपमान किया था। इस प्रकार संतोंका अपमान करनेके कारण ही उनका विनाश हुआ। कुटुम्बमें कम-से-कम एक भी व्यक्ति पुण्यशाली हो तो उस कुटुम्बका नाश नहीं हो सकता, कोई उसका अहित नहीं कर सकता। विदुरजीके जानेसे कौरवोंका सर्वनाश हुआ और विभीषणके जानेसे लंकाके रावण और अन्य सभी राक्षसोंका संहार हुआ।

विदुरजी तीर्थयात्राके लिये चल पड़े। धृतराष्ट्रद्वारा भेजा गया धन उन्होंने लौटा दिया। आवश्यकताएँ कम करते जाओगे तो पाप भी घटते रहेंगे और उन्हें बढ़ाओगे तो पाप भी बढ़ते ही रहेंगे। प्राप्त स्थितिमें असंतोषका अनुभव ही मनुष्योंको पाप करनेकी प्रेरणा देता है। इसीलिये तो कहा है कि पापका पिता असंतोष—लोभ है। जो पाप नहीं करता है, वह पुण्य ही करता है।

विदुरजी यात्रा करने निकले, परंतु अपने साथ उन्होंने कुछ भी नहीं लिया। जब कि आजकलके लोग यात्रा करने निकलते हैं तो बहुत-सी वस्तुएँ साथ लेकर चलते हैं। अपनी आवश्यकताकी लम्बी-लम्बी सूची बनाते हैं और उसमेंसे कोई वस्तु शेष न रह जाय, इसकी पूरी-पूरी चेष्टा करते हैं।

यात्राका अर्थ है—(या+त्रन्=यात्रा, उणा० ४। १६८)। इन्द्रियोंको प्रतिकूल विषयोंसे हटाकर अनुकूल विषयोंमें लगा देना ही यात्रा है। तीर्थयात्रा उसीकी सफल होती है, जो तीर्थ-जैसा ही पवित्र होकर वहाँसे लौटता है।

केवल यात्रा करनेसे ही पुण्य नहीं हो जाता। कई बार तो

मनुष्य यात्रा करते-करते पापकी गठरी बाँधकर भी लाता है। यात्रा विधिपूर्वक करनी चाहिये। विधिपूर्वक यात्रा करनेसे ही पुण्य प्राप्त होता है। यात्रा करनेके लिये निकलनेसे पहले प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि 'मैं अब ब्रह्मचर्यका पालन करूँगा, कभी क्रोध न करूँगा, असत्य नहीं बोलूँगा, व्यर्थ भाषण नहीं करूँगा।' ऐसी प्रतिज्ञा करनेके पश्चात् ही यात्राका आरम्भ किया जाय।

तीर्थेकि सच्चे साधु-संतों-ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवालोंको तीर्थयात्राका पुण्य प्राप्त नहीं हो सकता। साधु-संतोंके प्रति सद्भाव न हो तो तीर्थयात्रा विफल रहती है। तीर्थ-स्थानमें विधिपूर्वक स्नान करना चाहिये। वहाँ कुल्ले करना और साबुन लगाकर स्नान नहीं करना चाहिये।

महाप्रभुजी दुःखसे कहते हैं कि अतिशय विलासी और पापी लोग तीर्थ-स्थानोंकी ओर जाने लगे हैं और वहाँ रहने भी लगे हैं। यही कारण है कि तीर्थस्थानोंकी महिमा लुप्त होने लगी है।

जब विदुरजी यात्रा करने गये तो साथमें क्या ले गये थे? कुछ नहीं। केवल कौरवोंका पुण्य ही साथमें ले गये थे। **'स निर्गतः कौरवपुण्यलब्धो०।'**

कौरवोंका पुण्य साथ ले गये, क्योंकि उन्होंने विदुरजीका अपमान किया था, निन्दा की थी।

तुम्हारी कोई निन्दा करे, अपमान करे और तुम उसे सह लोगे, तो तुम्हारा पाप उस निन्दकके पास जायगा और उसका पुण्य तुम्हें मिलेगा।

तीर्थमें जाओ तो उस दिन उपवास करो। ब्राह्मणका अपमान मत करो। सच्चे साधु-संत-ब्राह्मणका अपमान करनेसे तीर्थयात्रा विफल रहती है। उपवास करनेसे शरीरकी शुद्धि होती है, पाप जल जाते हैं और सात्त्विकभाव जाग्रत् हो जाता है।

विदुरजी प्रत्येक तीर्थमें उपवास करते थे और विधिपूर्वक स्नान करते थे। यात्रा किस प्रकार की जाय, इस विषयमें विदुरजी कहते हैं—

गां पर्यटन् मेध्यविविक्तवृत्तिः
सदाप्लुतोऽधःशयनोऽवधूतः।
अलक्षितः स्वैरवधूतवेषो
व्रतानि चेरे हरितोषणानि॥

(श्रीमद्भा० ३। १। १९)

'पृथ्वीपर वे अवधूत-वेषमें परिभ्रमण करते थे, जिससे स्नेही-सम्बन्धी उन्हें पहचान न सकें। शरीरका शृङ्गार नहीं करते थे। अल्पमात्रामें वे बिलकुल पवित्र भोजन करते थे। शुद्ध वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करते, प्रत्येक तीर्थमें स्नान करते, भूमिपर ही शयन करते और भगवान् जिससे प्रसन्न हो सकें ऐसे व्रत करते थे।'

संत तीर्थको पावन करते हैं। भरद्वाज मुनि स्नान करनेके लिये आते थे, तो गङ्गाजी पचीस सीढ़ियाँ ऊपर आ जाती थीं। गङ्गाजीको ज्ञात था कि और लोग तो अपने पाप मुझे देनेके लिये आते हैं, जब कि भरद्वाज मुनि मुझे पावन करनेके लिये आते हैं।

अति सम्पत्ति अनर्थका मूल है। इसी कारण भगवान्ने सुवर्णकी द्वारका जलमें डुबा दी थी। द्वारकामें भगवान्की मूर्ति मनोहर है, उसका स्वरूप अद्भुत है। देखते रहनेपर भी मन तृप्त नहीं होता। लोगोंको द्वारकाधीशका दर्शन अवश्य करना चाहिये। काशीका माहात्म्य भी अधिक है। काशीके प्रमुख देव हैं विश्वनाथ।

विश्वेशं माधवं ढुण्ढिं दण्डपाणिं च भैरवम्।
वन्दे काशीं गुहां गङ्गां भवानीं मणिकर्णिकाम्॥

इस श्लोकका प्रतिदिन पाठ करनेसे काशीवासका फल मिलता है। काशीमें नौ मास रहनेवालेका पुनर्जन्म नहीं होता। काशीके मणिकर्णिका घाटपर यह श्लोक लिखा हुआ है—

मरणं मङ्गलं यत्र सफलं यत्र जीवितम्।

शिवजी ज्ञानके मुख्य देव हैं। काशीमें ज्ञान शीघ्र ही सिद्ध होता है। ज्ञान पाना चाहते हो तो तुम्हें श्मशानमें रहना पड़ेगा। श्मशान ज्ञान-भूमि है। श्मशानमें रहनेकी नहीं, उसे सदा स्मरण करते रहनेकी आवश्यकता है। दिनमें तीन-चार बार श्मशानका स्मरण करते रहोगे, तो बुद्धिमें परिवर्तन होगा। कल्पना करो कि तुम काशीमें ही रहते हो। यहाँ बैठकर मनसे ही गङ्गास्नान करो। कलियुगमें तो मनसे सत्कर्म करनेवालेको भी पुण्य मिलता है।

तीर्थक्षेत्रोंमें गयाजी (पितृगया) प्रसिद्ध तीर्थ है। वहाँ

अनेक श्राद्ध करने होते हैं। प्रथम श्राद्ध फल्गु-किनारे किया जाता है और अन्तिम श्राद्ध अक्षयवट-तले करना होता है। जहाँ करारविन्द तथा पादारविन्दवाले बालकृष्ण निवास करते हैं। श्राद्धक्रिया करानेवाला पुरोहित किसी एक वस्तुका त्याग करवाता है और भगवान्से कुछ माँगनेको कहता है।

पहले कुछ त्याग किया जाय फिर उसके बाद ही कुछ माँगा जाय। जो भगवान्के लिये कुछ त्याग कर सकता है, उसे ही उनसे माँगनेका अधिकार मिलता है। अधिकतर लोग अपनी जिस वस्तुसे रुचि न हो उसे ही छोड़नेकी प्रतिज्ञा करते हैं। खाने-पीनेकी सामान्य वस्तु छोड़नेकी प्रतिज्ञा अधिकतर लोग करते हैं। किंतु इस तरह साग-सब्जी या फल आदिके त्यागसे कोई लाभ नहीं होगा। यदि पाप और विकारका त्याग करोगे तो लाभ होगा। ऐसा कहो कि काशी-विश्वनाथके दर्शन करके मैंने काम छोड़ दिया और गोकुल-मथुराकी यात्रामें क्रोधको त्याग दिया। एक-एक तीर्थमें एक-एक पाप छोड़ दो। एक-एक त्याग करो। प्रभुके लिये अति प्रिय वस्तुका त्याग करोगे तो वे प्रसन्न होंगे।

काशी ज्ञानभूमि है। अयोध्या वैराग्यभूमि है। व्रज प्रेम-भूमि है। व्रजरजमें कृष्णप्रेम भरा हुआ है। नर्मदाका किनारा तपोभूमि है। '**रेवातीरे तपः कुर्यात्।**' नर्मदाके किनारेपर ज्ञान, वैराग्य और भक्ति तीनों सिद्ध हो सकते हैं।

तीर्थमें क्रोध मत करो। तीर्थमें ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंका पालन करोगे तभी तीर्थयात्राका फल मिलेगा।

यात्रा करते हुए विदुरजी युमना-किनारे वृन्दावन आये। ठाकुरजीकी कृपासे तुम्हें समय मिल सके तो चार मास वृन्दावनमें रहकर प्रभुभजन करो।

कन्हैया व्रजमें नंगे पाँव घूम रहे थे, यशोदाने समझाया कि नंगे पाँव वनमें घूमनेसे काँटे-कंकड़ चुभ जायँगे, इसलिये पगरखा पहनकर जा। तो कन्हैयाने कहा कि 'गायोंकी सेवा करनेके लिये ही तो मैं आपके घर आया हूँ। गत जन्ममें मैं राजाके घरमें राम बनकर जन्मा था, तो मुझे किसीने गौसेवाका अवसर ही नहीं दिया। इसलिये मैंने सोचा कि अब भविष्यमें मैं किसी गोपालकके घर जन्म लूँगा और गौसेवा करूँगा।' जब वे पाँच वर्षके बालक थे, तभीसे गायोंको खिलानेके पश्चात् खानेका उनका नियम था। कन्हैयाने कहा कि 'मेरी गायोंके पैर भी तो खुले ही हैं तो फिर मैं ही कैसे पगरखे पहन सकता हूँ।'

लालाके यों तो कई नाम हैं, किंतु एक वैष्णवने कहा है कि 'मुझे तो 'गोपालकृष्ण' नाम ही बड़ा पसंद है। कृष्ण व्रजमें खुले पाँव फिरते रहते हैं, अतः व्रजरज अति पावन है। द्वारकामें तो राजा थे, अतः खुले पाँव घूम नहीं सकते थे।'

विदुरजी व्रजकी कृष्ण-रमणसे पवित्र रजमें लोटते हैं। रमण-रेतीमें गोपियोंकी भी चरण-रज है। विदुरजी कृष्णकी मङ्गलमय लीलाओंका चिन्तन करते हैं। यमुनाके किनारे लौकिक बातें करना पाप है। यह भूमि अतिशय पवित्र है। भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ गौएँ चराने आते थे। व्रजकी लीला नित्य है। भागवतके प्रमुख टीकाकार श्रीधर स्वामीने कहा है कि भगवान्का नाम, लीला, स्वरूप, धाम, परिकर नित्य हैं। आज भी भगवान् श्रीकृष्ण व्रजमें प्रतिदिन लीला करते हैं।

भगवान् कहते हैं कि जगत्के किसी भी स्त्री, पुरुष, जड या चेतन वस्तुमें आनन्द नहीं है। तुम मेरे पास आओ। मैं ही आनन्दरूप हूँ। श्रीकृष्ण आनन्दरूप हैं।

विदुरजीने अनुभव किया कि मेरे श्रीकृष्ण गायोंको लेकर यमुनाके किनारे आये हैं। यह कदम्बका वृक्ष है। वैष्णव इसे टेर कदम्ब कहते हैं। कदम्बपर झूलते हुए श्रीकृष्ण वंशी बजाते हैं और अपनी प्यारी गायोंको बुलाते हैं कि 'हे गंगी! हे गोदावरी! आओ।' विदुरजीकी ऐसी भावना थी कि वे लीलाको प्रत्यक्ष देखें। अतः उन्हें इन सबका अनुभव हुआ।

गायोंके बीचमें खड़े हुए गोपालकृष्णका ध्यान करो। ऐसे कृष्णका ध्यान करनेसे तन्मयता शीघ्र प्राप्त होती है।

इन्द्रियोंका विवाह परमात्माके साथ करो, विषयोंके साथ नहीं।

भगवान्का एक नाम है हृषीकेश। हृषीकका अर्थ है इन्द्रिय और ईशका अर्थ है स्वामी। इन्द्रियोंके स्वामी श्रीकृष्ण हैं। ये पाँच इन्द्रियाँ सच्चे पति नहीं हैं। इन्द्रियाँ पति होना चाहती हैं। संसारका कोई भी रूप जबतक आँखें देखती रहेंगी, तबतक नींद नहीं आयेगी। इसका अर्थ यह है कि रूप आँखका पति नहीं है।

विदुरजी सोचते हैं कि मेरी अपेक्षा ये पशु श्रेष्ठ हैं, जो परमात्मासे मिलनेके लिये आतुर होकर दौड़ते हैं। गायें भी कृष्णमिलनके लिये व्याकुल हैं। धिक्कार है मुझे कि अभीतक मुझमें कृष्णमिलनकी तीव्र इच्छा उत्पन्न नहीं हुई है। गायें दौड़ती हैं और मैं पत्थर-सा बैठा हुआ हूँ। उनकी आँखें प्रेमाश्रुओंसे गीली हो गयीं। ऐसा प्रसंग कब आयेगा कि 'मैं भी इन गायोंकी भाँति कृष्णमिलनके लिये दौड़ लगाऊँगा।' वे कृष्णलीलाका चिन्तन करते हुए कृष्णप्रेममें पागल हो गये हैं, अति तन्मय हो गये हैं।

किसी भी प्रकार जगत्‌को भूल जाओ और प्रभुप्रेममें तन्मय हो जाओ। सभी साधनोंका यही रहस्य है। विरह जब अतिशय तीव्र होता है तभी परमात्मासे मिलन होता है।

शङ्का-समाधान—

मानव-शरीरकी महत्ता

(स्वामी श्रीशंकरानन्दजी महाराज)

शङ्का—रामचरितमानसमें मनुष्य-शरीरकी बहुत प्रशंसा की गयी है—

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥

× × ×

नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही॥

× × ×

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

यहाँ यह शङ्का होती है कि मनुष्यके बालकको चलने-फिरने, उठने-बैठने, खाने-पीने तथा खाद्य-अखाद्यका ज्ञान एवं शत्रु-मित्रकी पहचान आदि, जीवनयापनके लिये अति आवश्यक कार्योंका भी ज्ञान बिना सिखाये नहीं होता। किंतु पशु-पक्षियोंमें प्रायः अधिकांश गुण प्रकृति-प्रदत्त ही होते हैं। इस दृष्टिसे देखा जाय तो मनुष्य-शरीरकी उपर्युक्त प्रशंसा ठीक प्रतीत नहीं होती। वस्तुतः शास्त्रोंमें मानव-शरीरकी विशेष प्रशंसा क्यों है?

समाधान—लौकिक दृष्टिसे इस शङ्काका समाधान तो यह है कि अन्य शरीरोंकी अपेक्षा मनुष्य-शरीरमें जीवको ऐसी बुद्धिकी प्राप्ति होती है, जिससे यह लघुकाय होनेपर भी विशालकाय हाथी आदिको भी अपने वशमें कर लेता है। अपनी क्षुधा-पिपासा, सरदी-गरमी रोग आदिके निवारणहेतु अन्न-जल, गृह, ओषधि आदिका संचय कर लेता है। इस बुद्धिके ही ये सब चमत्कार हैं, जिससे मानवने जलयान, वायुयान, ट्रांजिस्टर, रेलगाड़ी, टेपरिकार्ड, विशालतम पुल, बाँध तथा कारखानों आदिका निर्माण किया है। इतना ही नहीं, अपितु चन्द्रलोकतक गमन करनेमें सफल हुआ है।

अलौकिक दृष्टिसे उक्त शङ्काका मुख्य समाधान यह है कि मानवशरीरमें ही ऐसी बुद्धि मिलती है, जिससे शास्त्रानुसार स्वयोग्यताके अनुरूप साधनका अनुष्ठान कर मानव मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसीलिये कहा है—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

× × ×

नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥

भाव यह है कि ज्ञानप्रधान मानव ज्ञानयोगद्वारा, भाव-प्रधान मानव भक्तियोगद्वारा तथा क्रियाप्रधान मानव कर्मयोग-द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अन्य शरीरोंके द्वारा मोक्ष प्राप्त न हो सकनेके कारण ही मानव-शरीरकी महती प्रशंसा की गयी है।

शङ्का—कुछ मानव तो तन-धन-क्षीण, बुद्धिहीन, विक्षिप्त-मन, उन्माद, अपस्मार (मिर्गी) आदि असाध्य रोगोंसे ग्रस्त, अंधे, बहरे, लूले-लँगड़े होनेके कारण ज्ञान-ध्यान आदि अलौकिक साधनका अनुष्ठान कर ही नहीं सकते। इतना ही नहीं, प्रत्युत लौकिक दृष्टिसे सुखमय नहीं, अपितु अति दुःखमय नारकीय जीवनयापन कर रहे हैं। ऐसे लोगोंके लिये मानव-शरीरकी प्रशंसा सर्वथा व्यर्थ है।

समाधान—प्रशंसा, निन्दा, नियम आदि सब अधिकांश स्थलोंको लक्ष्य कर किये जाते हैं। अतः कुछ स्थलोंमें उनका अपवाद होनेपर भी व्यर्थ नहीं कहा जाता।

शङ्का—यदि जीवके बड़े भाग्यानुसार ही मानव-शरीर मिलता है तो—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

—ऐसा क्यों कहा गया है ? यदि ईश्वर करुणा करके बिना हेतुके ही मानव-शरीर देते हैं तो सब जीवोंको मानव-शरीर एक ही समय उन्होंने क्यों नहीं दिया। जिन्हें दिया है, उनमें भी किसीको अधिक ज्ञान-ध्यानको योग्यता, धन-धान्य-मकानकी सम्पन्नतासे युक्त क्यों किया ? क्या इससे ईश्वरमें विषमताका दोष नहीं आता ? इस विषमता-दोषसे बचनेके लिये यदि जीवोंके कर्मोंको विषमताका हेतु माना जाय तो 'ईश्वर बिना हेतुके करुणा करके मानव-शरीर देते हैं'—इस कथनके साथ विरोध होगा। इन शङ्काओंका क्या समाधान है ?

समाधान—सभी जीवोंको एक ही समय मानव-शरीर न देनेमें तथा ज्ञान-ध्यानकी योग्यताकी न्यूनता-अधिकता आदिमें भी जीवोंके कर्म ही हेतु हैं। अतः ईश्वरमें विषमतादोषका लेश भी नहीं है। पशु-पक्षी-शरीर-प्राप्तिके योग्य असंख्य कर्मोंके रहते हुए भी बीच-बीचमें उद्धारके लिये मानव-शरीर देनेका नियम बनाना ही ईश्वरकी अहैतुकी करुणा है। अतः ईश्वर 'मानव-शरीर बिना हेतुके करुणा करके देते हैं ?' यह कथन भी ठीक ही है।

शङ्का—बीच-बीचके जिस कालमें मानव-तन-प्रदानका विधान भगवान्ने करुणा करके बनाया है, वह काल कब आता है ?

समाधान—श्रीशंकराचार्यजीने बृहदारण्यकग्रन्थके प्रारम्भमें सम्बन्धभाष्यमें कहा है कि 'धर्म-अधर्म समान मात्रामें होनेपर मनुष्यत्वकी प्राप्ति होती है'—'**साम्ये च धर्माधर्मयोः मनुष्यत्वप्राप्तिः**।' स्कन्दपुराणमें भी ऐसा ही कहा गया है—

साम्ये पुण्यान्ययोश्चैव मानुषीं योनिमाप्तवान्।

(स्कन्दपु० ब्रह्म०, ब्रह्मोत्तर० १। ६४)

शङ्का—यदि धर्माधर्म समानमात्रामें होनेपर मनुष्य-तनकी प्राप्ति होती है तो सभी मानवोंको समानमात्रामें ही सुख-दुःख प्राप्त होना चाहिये।

समाधान—धर्म-अधर्म समानमात्रामें होनेपर भी उनके परिमाणमें विषमता होनेके कारण सुख-दुःख समानमात्रामें नहीं प्राप्त होते। तात्पर्य यह है कि जिन जीवोंके अधिक शुभ कर्मोंके फलोद्गमका समय आ गया, उन्हें सुख होगा एवं जिन जीवोंके अधिक अशुभ कर्मोंके फलोद्गमका समय आ गया, उन्हें दुःख अधिक होगा।

शङ्का—किस जीवके किन कर्मोंका परिपाक किस कालमें शीघ्र या विलम्बसे होता है, इस विषयमें क्या नियम है?

समाधान—इस शङ्काका सम्यक् समाधान सर्वज्ञ भगवान्के अतिरिक्त और कोई भी नहीं कर सकता, क्योंकि कर्मोंकी गति अति गहन है—'**गहना कर्मणो गतिः**' (गीता ४। १७)। तथापि सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि अति उत्कृष्ट शुभ-अशुभ कर्मोंका शीघ्र परिपाक होता है तथा अन्य कर्मोंका उनकी तारतम्यतानुसार मन्द, मध्यम गतिसे विलम्बमें परिपाक होता है। जो शुभ-अशुभ कर्म प्रयागादि पवित्र तीर्थोंमें, पूर्णिमा आदि पुण्यकालोंमें, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ भगवद्भक्त आदि दिव्य गुणोंसे युक्त ब्राह्मणके प्रति किये जाते हैं, वे कर्म उत्कृष्ट होते हैं। अतः लोक-परलोकमें अपने कल्याणकी कामना रखनेवालोंको सदा-सर्वदा सत्कर्मोंकी ओर प्रवृत्त होना चाहिये।

शीघ्र चेतो !

जल्दी दौड़ो ! इस मायाके धधकते हुए दावानलसे शीघ्र बाहर निकलो। देखो, अग्निकी प्रलयङ्करी लाल-लाल लपटें लपक-लपककर जगत्को धड़ाधड़ ग्रस रही हैं। प्रचण्ड धूएँ-से सभी दिशाएँ छा गयी हैं, वह गया,—दूसरा भी चला—अरे तीसरेको भी ले लिया ! परंतु हाय ! तुम मूर्खकी तरह 'किंकर्तव्यविमूढ' 'होकर पड़े हो, तुम्हारा भी क्रम शीघ्र आ रहा है ! यदि बचना चाहते हो तो तुरंत सबका मोह छोड़कर बाहर निकल पड़ो। देखो ! वह देखो ! उस छलकते हुए अमृतसमुद्रके किनारे विशाल जहाज ठहराये सबका हितैषी अकारण करुणामय वह परमपिता परमेश्वर जहाजचालकके रूपमें बार-बार सीटी बजा-बजाकर सबको बुला रहा है—पुकार रहा है। जिसने उसकी पुकार सुनकर उसकी ओर ध्यान दिया, वह विश्वव्यापी अग्निसे बचकर दुःखसागरसे तुरंत तर गया। इसी तरह तुम भी तर जाओगे ! अरे, निर्भय हो जाओगे—अमर हो जाओगे ! जाओ, जाओ ! शीघ्रता करो, अन्यथा जलते हो, बार-बार जलोगे। अतएव चेतो ! शीघ्र चेतो !!

भगवत्प्रेम-चिन्तामणि

(डॉ० श्रीशुकरत्नजी उपाध्याय)

[गताङ्क पृ०-सं० ५५८ से आगे]

जगत्में जितने पथोंके निर्माण हुए हैं, वे सभी कामनाओंके पथ हैं और कामनाओंसे भरा हुआ चित्त जीवनकी अतुल गहराईके द्वार नहीं खोल सकता। परम रसको पानेके लिये हमें उसे प्रभु-भक्तिकी अनन्त लहरोंसे भरना होगा। उससे हृदयके लबालब भर जानेपर कामनाओंके कलुष अपने-आप धुल जाते हैं—

शुध्यति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमृते ।
वसनमिव क्षारोदैर्भक्त्या प्रक्षाल्यते चेतः ॥

(प्रबोधसुधाकर, १६७)

प्रेम और समर्पण ही जीवनके दो ऐसे तथ्य हैं, जिनके परस्पर मिलनसे आणविक विस्फोटसे कहीं अधिक शक्तिशाली विस्फोट होता है। इसके कारण मानव-मनका पूर्णरूपेण रूपान्तरण हो जाता है और प्रेम-ज्योतिका प्रकाश चारों ओर फैल जाता है तथा जीवन सच्चे अर्थसे ओत-प्रोत और सार्थक मालूम पड़ने लगता है। भगवत्प्रेम अमृतका ऐसा निर्मल निर्झर है, जिसकी एक बूँदसे ही मनुष्य-मनमें जन्म-जमान्तरसे संचित हलाहल घातक विष क्षणभरमें लुप्त हो जाता है। यह विष है घृणा तथा विद्वेष। इस विषके असंख्य रूप हैं। संसारके जितने भी द्वन्द्व हैं, विग्रह हैं, कलह हैं, वे इसी विषसे उद्भूत होते हैं। मनुष्यके निरन्तर जलते हुए जीवनकी परस्पर टकराती जटिल समस्याओंका समाधान अन्ततः प्रेममें है। जिसके प्रकट होते ही परस्परमें निश्चल सरल भाव, सहानुभूति एवं सहयोगकी दैवी सुगन्ध फूट पड़ती है। मनुष्यकी मनुष्यता इस निःस्वार्थ एवं अनन्तकी ओर उन्मुक्त निर्मल प्रेमके सहारे ही जीवित रह सकती है। इसीलिये राम-राज्यमें सब लोग इसी प्रेमके रेशमी सूत्रसे आपसमें जुड़े हुए थे—

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥

मनुष्यके मनमें ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिद्वन्द्विता और हिंसाके रूपमें प्रकट होनेवाले संघर्ष ही अनेक प्रकारके मनोवैज्ञानिक आघातोंके आधार हैं। जब मन संघर्षसे मुक्त होकर प्रेमसे भर जाता है, तब जीवनमें सम्पूर्णता प्रतिबिम्बित होने लगती है। ज्ञान और बोध-शक्तिकी सर्वोच्च श्रेणियाँ भी इसी प्रेमके समुद्रमें विलीन हो जाती हैं। प्रेमका शास्त्र अनोखा है, इसमें परम मधुर विवशता है।

प्रेम सृष्टिकी प्रकृतिको ही बदल देता है। जिसके कारण ईश्वर भी अपना ऐश्वर्य भूलकर पराधीन बन जाता है, किंतु जो 'मैं' की खूँटीसे बँधा है, उसकी यह गाँठ नहीं खुलती। 'मैं' की चट्टानके चूर-चूर होकर टूट जानेपर ही प्रेमके झरने बहते हैं, तभी हृदय-सम्पदाकी गठरी खुल पड़ती है, तभी हृदयमें चुभनेवाले गहरे काँटे फूल बनकर खिल उठते हैं, तभी जीवन-वीणाके मधुर संगीत बज उठते हैं और तभी प्रेम अनन्तगुना होकर साधकके ऊपर बरस पड़ता है। जो किन्हीं मानसिक आघातोंके कारण निराश हो चुके हैं, वासनाओंकी जंजीरोंने जिनके पैरोंको बाँध लिया है, अर्थ और कामकी धधकती ज्वालासे जिनके हृदय जल चुके हैं, वे भी इस प्रभु-भक्तिकी गङ्गामें नहाकर नया जीवन पा सकते हैं।

प्रेमाविष्ट भक्तकी उत्कण्ठा इतनी प्रबल होती है कि उसे उस दशामें बन्धु-बान्धवगण जलरहित अंधे कुएँकी तरह, घर काँटोंसे घिरे जंगलकी भाँति, आहार प्रहारके सदृश, प्रशंसा सर्प-दंशनके तुल्य, शरीर एक असहनीय बोझके समान और प्राण भुने हुए धानकी तरह निष्फल लगने लगते हैं। यहाँतक कि श्रीकृष्णविस्मरण उसे ऐसा लगने लगता है कि जैसे वह उसके प्राणोंको छेदकर उनके टुकड़े-टुकड़े कर देनेवाला शूल हो। ऐसी तीव्र उत्कण्ठाकी दशामें उसका प्रेम चुम्बकका रूप धारण कर लेता है, जो श्रीकृष्णका आकर्षण कर किसी भी समय उनका दर्शन करा देता है। इसीलिये प्रेमकी अद्भुत शक्तिको 'कृष्णाकर्षिणी' कहा गया है।

प्रेमके ढाई अक्षरोंमें भक्तिका सारा शास्त्र समा जाता है। अद्भुत है यह प्रेम, जब हो जाता है तब रोका नहीं जा सकता और जब नहीं होता, तब किया नहीं जा सकता। कोई आज्ञा दे कि प्रेम करो, तो क्या आज्ञा-पालनके लिये बलपूर्वक किसीसे प्रेम किया जा सकता है ? प्रेम एक ऐसा अनूठा शब्द है, एक ऐसा द्वार है, जिसके एक ओर संसार है तो दूसरी ओर चिर आनन्द और जीवनकी चरम सार्थकता लिये हुए प्रेमास्पद प्राणेश्वर प्रभु हैं।

प्रेम पानेका अर्थ है, उसकी स्मृति रोम-रोममें गूँजने लगे, उसका ही स्वाद प्राणोंके कोनों-कोनोंमें फैल जाय। प्रेमके विराट् आकाशमें हम उड़ने लग जायँ। उस शाश्वत, सनातनका स्पर्श पाते ही क्षणभङ्गुरता अपने-आप छूट जाती है। जिसने उस प्रभुको पा लिया, उसने सब कुछ पा लिया। उसपर आनन्दके मेघ बरस उठेंगे। उसका स्मरण भी हो जाय तो सब कुछ मिल गया। जो उसतक नहीं पहुँच सका, उसका कुछ भी पा जानेपर कोई भी अर्थ नहीं है। एक दिन उसकी आँखें आँसुओंसे भरी होंगी। प्रतिदिन मनपर संतापके काँटे फैलते चले जायँगे और पैरोंमें दुःख तथा पीड़ाके बड़े-बड़े पत्थर बँधे हुए प्रतीत होंगे।

प्रेम जीवन, जगत् और धर्मका सार है। जहाँ भी प्रेमका अभाव होने लगता है, वहीं सब कुछ निष्प्राण होता चला जाता है। हम जीवनके प्रत्येक कदमपर इसकी सत्यताको परख सकते हैं। मनुष्यके जीवनमें प्रेमकी माँग तो बहुत है, किंतु प्रेमकी वर्षा कभी होती प्रतीत नहीं होती। जब अहंकारकी कठोरता टुकड़े-टुकड़े होकर अपनेको बिखरा देती है, तभी भीतरसे एक महान् जीवनका पक्षी प्रेमके पंख फैलाकर उड़ने लगता है। जितना अहंकार होगा, उतना ही प्रेम कम होगा। जब अहंकार नहीं रह जाता, तब चारों ओरसे प्रेमका सागर उमड़ने लगता है। कहते हैं कि यह अहंकार भी उसी सागरमें पूरी तरह डूब जाता है। प्रेमका सार यह है, जब प्रेमास्पदकी प्रसन्नतामें ही हमारी प्रसन्नता समा जाय, जब उसके आनन्दमें ही हमारा कण-कण पुलकित हो उठे। प्रेमका एक हाथ संसारसे जुड़ा है और दूसरा हाथ परमात्मासे। वह दोनोंको जोड़नेवाला सुकुमार सेतु है। सांसारिक प्रेम भी एक आकर्षण और प्रीतिकर सौन्दर्यके आवरणसे अपनेको ढँके रहता है। जब प्रेम बीजके रूपमें है, तब कामना, संसार और जगत्के अनन्त बन्धन हैं। वही जब प्रभुसे जुड़कर और पूर्ण विकसित होकर फूल बनकर खिलने लगता है, तब भक्तिकी सुगन्ध चारों ओर जीवनकी कृतकृत्यताकी घोषणा करने लगती है। प्रेमके केवल सांसारिक अनुभवसे पीड़ा मिटती नहीं, अपितु और गहन होती चली जाती है।

जब दो शरीर मिलते हैं, तब उससे जो रस पैदा होता है, उसका नाम काम है। जब दो मन मिलकर रस-स्रोत बहाने लगते हैं, तब उसका नाम सांसारिक प्रेम है, जहाँ मन अनेक प्रकारसे मीठे जाल फैला देता है। जब दो आत्माएँ मिलती हैं तथा अमृत और आनन्दका अक्षय सागर उमड़ने लगता है, तब उसका नाम भक्ति है। ऐसा प्रभु-प्रेम ही भाव-पुष्पका परिपक्व फल है। इस फलके आते ही साधकमें आमूल परिवर्तन हो जाता है। इसकी शक्ति उसकी सारी चित्तवृत्तियोंको, जो हजारों भागोंमें विभक्त होकर ममता-रज्जुके द्वारा देह-गेहादिमें बँधी रहती हैं, चारों ओरसे समेटकर दिव्यता प्रदान करती हुई श्रीभगवान्के नाम-रूप-गुण-लीलादिसे बाँध देती है। यह फल उस महासूर्यके समान है, जिसके उदित होते ही समस्त वासनाएँ और निखिल पुरुषार्थरूपी नक्षत्रमण्डली लुप्तप्राय हो जाती है।

पका फल अपने-आप गिर जाता है और कच्चा फल तोड़ना पड़ता है। काम-वासनामें मिलन-सुखकी अपेक्षा दूर हट जानेकी पीड़ा अति गहन है, इसलिये उसमें सदा ही विषाद, अतृप्ति और पश्चात्ताप है। काम बाँधता है, प्रेम मुक्त करता है। यदि तुम्हारे प्रेमने तुम्हें बाँधा हो तो समझना कि वह काम होगा, प्रेम नहीं। काम केवल अपने सुखकी ही खोज करता है। वह 'मैं' को पकड़े हुए है और 'मैं' ही सारे दुःखोंका निचोड़ है, वही तो काँटोंकी तरह चुभता है और पीड़ाके हजारों जाल फैला देता है। भक्तकी तो पहली शर्त है कि 'तू' है, 'मैं' नहीं हूँ। जिस समय हम प्रेमास्पदके सुखकी खोज करने लगें, जब परमात्माका सुख ही हमारा सुख बन जाय, वह जिसमें सुखी हो, वही मेरा सुख हो जाय, उसी क्षण भक्तिसे आनन्दकी वर्षा होने लगती है। भक्तिका बस एक ही मुख्य सूत्र है—अपनेको समर्पित कर दो। प्रेमास्पदके चरणोंमें अपनेको पूरी तरह फेंक दो। प्रेम ही यहाँ मार्ग है और प्रेम ही यहाँ मंजिल है।

जब प्रेम-पक्षीके गलेमें वासना, कामना, अहंकार आदिके पत्थर बाँध दिये जाते हैं, तब वह कारागृह बन जाता है। कोई भी माँग पंखोंपर बोझ बन जाती है और वही जब निर्मल, निर्दोष, स्वच्छ दर्पण-जैसा हो, शुद्ध ज्योतिर्मय सूर्यकी किरणों-जैसा चमकता हुआ हो तो अनन्तकी यात्रापर निकल जाता है, प्रियतम प्रभुका प्रतिबिम्ब उसमें स्पष्ट दिखायी देने लगता है।

जन्म-जन्मान्तरसे विषय-वासनाओंके अन्धकारमें भटकते हुए चित्तको प्रभुकृपाकी एक छोटी-सी किरण मिल जाय तो जीवन धन्य बन जाता है तथा दुःख, पीड़ाएँ, तृष्णा, आकाङ्क्षाएँ सब समाप्त हो जाती हैं, क्योंकि वे अनन्त इच्छाएँ इस एक ही महायाचनाके खण्ड हैं। यह एक ही माँग अनन्त खण्डोंमें बँटी हुई है। इसके पूरा हो जानेपर सब कुछ पूर हो जाता है। बाहरकी घटनाओंसे अनुत्तेजित और अनुद्विग्न होकर उसकी चेतनाकी ज्योति निरन्तर प्रकाश फैलाती रहती है।

वासनामें कभी किसीने विश्राम नहीं पाया, वहाँ कभी किसीको विराम नहीं मिला। श्याम या राम वहाँ नहीं हैं। जैसे वृक्ष जब फूलोंसे लद जाता है, तब झुक जाता है, ऐसे ही जब कोई प्रेमसे लदा हो और झुका हो, तभी उससे मधुर रस-स्रोत बहता है। भक्तके लिये तो यह सारा विश्व उसके प्रियके आकर्षणसे ही भरा हुआ है। यह कोयलकी कुहू-कुहू, ये वर्षाके बादल, यह रिमझिम, नाचते हुए मोर, बहते हुए झरने—अनेक रूपोंमें उस प्रियका ही आगमन है। चारों ओरकी घटनाएँ उसीकी पैरोंमें बँधे हुए घुँघुरुओंकी आवाज है। यह संसार उसीका प्रकट रूप है, यह उसी चित्रकारका चित्र है, ये सभी रंग उसीकें हाथने फैलाये हैं। वेद कहते हैं कि यह अजर, अमर काव्य उसीका है—'**पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।**'

साधन, भाव और प्रेम—ये भक्ति-शास्त्रकी तीन मणियाँ हैं, जिनसे भक्तिके परम आनन्दकी, महाजीवनकी ज्योति अपना प्रकाश फैलाती है। भाव ही सघन होकर प्रेम बन जाता है। भाव-भक्ति जब चित्तको अतिशय स्निग्ध—आर्द्र या कोमल करती हुई अतिशय ममत्व-बुद्धि उत्पन्न करती है और प्रथमावस्थाकी अपेक्षा परमानन्दोत्कर्षको प्राप्त करती है, तब उसे भक्ति-तत्त्वज्ञ-जन 'प्रेमा-भक्ति' कहते हैं—

सम्यङ्मसृणितः स्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

(हरि० भ० र० ४।१।१)

अनर्थकी निवृत्ति होनेपर विशुद्ध निर्मल चित्तमें निष्ठा, रुचि तथा आसक्तिके अनन्तर 'भाव' का उदय होता है। वही गाढ़ताको प्राप्त होनेपर प्रेम कहलाता है। उस समय हृदय नवनीतके समान अत्यन्त कोमल हो जाता है तथा 'ये मेरे, मेरे, मेरे ही हैं।' इस प्रकारकी अत्यन्त ममता उत्पन्न हो जाती है। ध्वंसके लाख कारण उपस्थित होनेपर भी यह प्रीति अखण्डित रहती है। प्रेम-भक्ति कहीं भी, किसीके भी हृदयमें क्यों न उदय हो, प्रभु श्रीकृष्ण उसके सौरभसे आकृष्ट होकर वहाँ पहुँच जाते हैं।

रुचि, स्नेह, आसक्ति अथवा व्यसन—ये प्रेमकी विभिन्न अवस्थाएँ हैं। इसी प्रकार स्नेह, मान, प्रणय, राग-अनुराग, भाव-महाभाव—प्रेमके ये विभिन्न गहन विकास भगवान्के नित्य पार्षदोंमें देखे जाते हैं।

जीवकी स्वाभाविक गति विषयमुखी है। उसे भजनोन्मुखी करनेके लिये किसी प्रबल शक्तिकी उसी प्रकार आवश्यकता होती है, जैसे पटरीपर चलती हुई रेलगाड़ी एक ही दिशामें चलती चली जाती है, पर उसे दूसरी दिशामें मोड़नेके लिये उस स्टेशनतक ले जानेकी आवश्यकता होती है, जिसपर इंजनका मुख मोड़नेकी व्यवस्था रहती है। जीवकी विषयाभिमुखी गतिको भजनोन्मुखी करनेके लिये प्रभु-प्रेमसे अभिषिक्त सच्चे साधुओंके सङ्गकी आवश्यकता होती है। ऐसे साधुओंका सङ्ग ही वह प्रबल शक्ति है, जिसके प्रभावसे बहिर्मुख जीवकी गतिको प्रेम-शास्त्रनिर्दिष्ट साधन-पथकी ओर मोड़ा जा सकता है।

लोग पश्चिमी सभ्यताकी अव्यवस्थित प्रगतिसे घबरा रहे हैं; क्योंकि उसका अब कोई नैतिक आधार नहीं रहा। उसकी आविष्कार और खोजसम्बन्धी प्रतिभा अपने ही सर्वनाशकी दिशामें चल पड़ी है। आधुनिक सभ्यताके पाखण्ड और अपराध आश्चर्यजनक हैं। परम प्रभु श्रीकृष्णके प्रेमके प्रकाशसे ही इस क्रूर अँधेरेपर विजय पायी जा सकती है। मनुष्य-मनके लिये यह महान् सौभाग्यकी बात होगी कि वह दैवी प्रेमके सर्वोच्च शिखरपर पहुँच जाय। उस स्थितिमें सृष्टिके सारे वृक्ष, सारे पुष्प, सारे नक्षत्र और तारे भी अपूर्व सौन्दर्यसे भर उठेंगे। तब प्रेमकी यह अडिग, अकम्प, निर्धूम ज्योति-शिखा सम्पूर्ण जीवनको रूपान्तरित कर देगी।
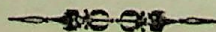
उद्धव-संदेश—२९

(डॉ० श्रीमहानामव्रतजी ब्रह्मचारी, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, डी०लिट्०)

श्रीमान् उद्धवको व्रज भेजनेके पश्चात् श्रीकृष्ण परम उत्कण्ठामें ही अपना कालयापन कर रहे हैं। दिन गिनते-गिनते पक्ष, पक्ष गिनते-गिनते मास, मास गिनते-गिनते पूरे दस मास व्यतीत हो गये—**'धृततृष्णतया वासरपक्षमासान् क्रमगणनया गणयन्।'** आज धैर्यका बाँध टूट गया। इसीलिये वे अत्युन्नत अट्टालिकाके ऊपरवाले शिखरकी छतपर जा खड़े हुए हैं। व्रजके पथपर जितनी दूर दृष्टि पहुँचती है, उसे देखनेकी अदम्य लालसा जो हृदयमें हिलोरें ले रही है—**'व्रजविलोकनया मनोरथपालिकामत्युन्नतचन्द्रशालिकां विन्दमानः।'**

अकस्मात् दीख पड़ा, उद्धवजी आ रहे हैं। उद्धवजीको देखकर श्रीकृष्णको लगा मानो गोकुल ही उद्धव-मूर्ति धारण करके चला आ रहा है—**'गोकुलं साक्षादयमिति।'** भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजीकी अगवानीके लिये द्रुतगतिसे अट्टालिकासे नीचे उतरकर दूरतक दौड़ते हुए अग्रसर हुए। उद्धवजीके पास पहुँचते ही उन्हें गाढ़ आलिङ्गनमें बाँध लिया। उसीसे मानो उन्हें गोकुलके दर्शन और स्पर्शका सुख मिल गया। एक बारके आलिङ्गनसे जब मनकी साध नहीं मिटी तो शत-शत प्रगाढ़ आलिङ्गनोंके द्वारा मानो उद्धवजीके शरीरको आच्छादित ही कर दिया—**'मुहुरालिङ्गनादिभिरादृत्य।'** फिर उनका हाथ पकड़कर एक निभृत कक्षमें ले गये—**'निभृतस्थानमानिनाय।'**

जन-समूहके समक्ष उद्धवजीसे व्रजका संवाद नहीं पूछा जा सकता। उद्धवजीके मथुरा पहुँचते ही वहाँके प्रायः सभी विशिष्ट व्यक्ति उनके दर्शन-हेतु आ पहुँचे थे। उनके साथ कथावार्ताका कोई सुयोग दिये बिना ही श्रीकृष्ण उद्धवजीको अपने कक्षमें खींच ले गये। सभी समझ गये कि एकान्त कक्षमें रहस्यालाप होगा।

श्रीकृष्णने उद्धवजीके वदनमण्डलपर उभरे स्वेदबिन्दुओंको अपने पीत वसनद्वारा पोंछा और अपने हाथोंमें पंखा लेकर उन्हें हवा करने लगे। इससे उद्धवजीका पथश्रम मिट गया। कोई भी बात जिज्ञासा करनेसे पूर्व श्रीकृष्ण उद्धवजीके मुखकी ओर एकटक ताकते रहे, मुखपर प्रसन्नताके चिह्न दिखायी पड़े। उस प्रसन्नताके दर्शनमात्रसे चित्तकी अधिकतर उत्कण्ठा एवं उद्वेग तो वैसे ही शमित हो गया—**'मुखप्रसादं दृष्ट्वा।'** अब कुशलवार्ताकी जिज्ञासा करने लगे।

प्रथम सामान्यतः सभीके कुशलकी जिज्ञासा की। फिर पिता नन्दरायकी, श्रीदामादि बन्धुगणोंकी, रक्त-पत्रकादि अनुगत जनोंकी एवं धेनुसमूहोंकी तो कुशलकी जिज्ञासा की, किंतु माँ यशोदाके विषयमें प्रश्न करनेमें समर्थ नहीं हो सके—**'प्रसूप्रश्ने नासीत् पटुः।'** ऐसा न कर पानेका हेतु था नेत्रसम्भूत जल—**'दृगम्भःसमुदयः।'** भले ही नयनोंमें जलधारा रहे, उससे बात पूछनेमें क्या बाधा थी? बाधा है। वह जलराशि गोविन्दके कण्ठविवरको कुण्ठित करती हुई उद्गत होने लगी—**'कण्ठविवरं मुहुः कुण्ठं कुर्वन्नुदयति।'** उद्धवजी और श्रीगोविन्द, दोनों ही निःशब्द होकर परस्पर मुँह निहारने लगे। दोनों ही व्रजप्रेममें विभोर हैं। एकके अन्तरमें दीर्घ विरहवेदना भरी पड़ी है, उसीसे भाषा पराहत है। जितनी बातें हैं, दृष्टि-विनिमयमें ही पर्याप्त हैं।

जब उच्छ्वास किंचित् उपशम हुआ तो उद्धवजी बोले—

अर्धं भवत्प्रभावेण मया तत्र समाहितम्।
भवत्प्रयाणपर्यन्तमर्धं पर्यवसीयते॥

(उत्तरगोपालचम्पूः १२।१११)

व्रजमें जाकर मैंने वहाँके विरहक्लिष्ट प्रियजनोंकी आधी वेदनाका तो समाधान कर दिया है, अब आपके गमनपर्यन्त अर्ध समाहित हो जायगा अर्थात् आपके व्रज जानेसे जैसा होता मैं उसका आधा ही कर पाया हूँ। अब इस विषयमें जो शीघ्र कर्तव्य हो, वह आप ही निश्चय करेंगे। ऐसा कहते-कहते उद्धवजी श्रीकृष्णके समक्ष व्रजसे लाये हुए उपायनसमूह—नवनीत, मोदक, अलंकार, वनफल, मुक्ताहार, गुंजामाला प्रभृति एक-एक करके रखने लगे। किसने क्या भेजा है, यह तो विशेष-विशेष चिह्नद्वारा ही वह समझ गये थे।

मातृप्रदत्त एक वस्तु जो कुछ दूर पड़ी थी, श्रीकृष्णने हस्तप्रस्तारणपूर्वक दिखायी, किंतु यह कहनेका साहस नहीं बटोर सके कि 'इसे सम्भवतः माँ यशोदाजीने भेजा है।' क्यों? अपने नेत्रोंमें जमा जलराशि कहीं बरस न पड़े, इस भयसे—**'वाष्पाम्बुपाताद्भीतस्तत्तद्विदूरार्पितनयनतया वस्तु**

तत्तद् ददर्श।' नेत्रजलक्षरणसे भीत होकर दूरसे ही टकटकी लगाकर मातृदत्त द्रव्यका दर्शन करने लगे। मुँहसे कोई शब्द नहीं निकला।

श्रीउद्धवने व्रजकी कहानी श्रीकृष्णके समक्ष एक ही दिनमें सब नहीं सुना दी, बहुत सारे दिनोंमें थोड़ी-थोड़ी करके कही थी—'**अहोभिर्बहुभिरेव व्याहरिष्यते।**' एक दिन बोले— 'व्रजवासियोंमें जैसे प्रेम और प्रेमचेष्टाका दर्शन मिला, वैसा अन्यत्र कहीं किसी भक्तमें हो ऐसा मैं नहीं जानता, न किसीके मुखसे ऐसा सुना भी है।' बस, इतना सुनते ही श्रीकृष्णका मुखमण्डल अनुरागरञ्जित हो गया। अवस्था देखकर उद्धवजी वहीं मौन हो गये।

एक अन्य दिन सभामें किसी बातके प्रसंगमें उद्धवजी हठात् बोल पड़े—गोकुलके नन्दबाबाके अनुरागमय भावके आवर्तको आपके अतिरिक्त दूसरा कौन समझ सकता है? आते समय वे बोले थे—'तुम्हारे ईश्वर श्रीकृष्णमें मेरे मन, काय और वाणीकी समस्त वृत्तियाँ अक्षुण्ण लगी रहें।' आपकी माँ श्रीयशोदाजी वात्सल्यस्नेहसे गद्गदकण्ठ होकर रथके पार्श्वमें चित्रलिखित-सी खड़ी-खड़ी वर्षाऋतुकी झड़ीकी तरह अश्रुवर्षण करने लगीं और एक शब्द भी उनके मुखसे नहीं निकल सका। इस बातके श्रवणमात्रसे श्रीकृष्ण अधीर होकर सभाके मध्यमें ही उच्च स्वरसे क्रन्दन कर उठे।

और एक दिन श्रीउद्धवजीने निर्जन स्थान देखकर व्रजाङ्गनाओंके दिव्योन्माद एवं चित्रजल्पका किंचित् आभासमात्र प्रकाश किया—

भ्रमति भवनगर्भे निर्निमित्तं हसन्ती
प्रथयति तव वार्तां चेतनाचेतनेषु।
लुठति च भुवि राधा कम्पिताङ्गी मुरारे
विषमविरहखेदोद्गारिविभ्रान्तचित्ता॥

(उज्ज्वलनीलमणिः)

सुनो मुरारे! आपकी राधाकी अवस्था! आपके विषम विरह-हेतु उनकी ऐसी स्थिति हो गयी है कि वे घूर्णितचित्त हो गयी हैं। कभी गृहके भीतर ही इधर-उधर भटकने लगती हैं, कभी अन्धकारमें ही अकारण खिलखिलाकर हँसने लगती हैं, तो कभी चेतन-अचेतन-वस्तुभावसे आपके सम्बन्धमें जिज्ञासा करने लगती हैं और कभी-कभी तो भीषणरूपसे काँपते-काँपते धूलमें गडागडी देने लगती हैं — '**अट्टहासपटलं निर्माति।**' कभी-कभी चमककर स्वरभेदयुक्त घर्घर महाध्वनि करती हुई रोदन करने लगती हैं— '**घर्घरघनोद्घोषम्।**' कभी फिर स्वेदवारिसे पूर्णतः सिक्त हो जाती हैं—'**घर्माम्बुभाक्।**'

उपर्युक्त बातें श्रीकृष्णके कर्णगत होते ही वे 'हा राधे! हा चित्तभ्रमरकी चूतमञ्जरि!' कहते-कहते बाह्यज्ञानशून्य हो गये। फिर बहुत देरके पश्चात् अर्धबाह्यदशा-लाभ करके भी 'हा भानुनन्दिनि!' कहते हुए उन्होंने अनेक विनिद्र रजनियाँ अतिवाहित की थीं।

नन्दनन्दन अपने हृदयमें कितना अनुराग, कितना गम्भीर प्रेम, कितनी निविड विरहवेदना छिपाये हुए मथुरामें निवास कर रहे हैं, उसका किंचित् आभासमात्र पाकर उद्धवजी विस्मयाविष्ट हो गये। श्रीकृष्णके लिये व्रजकी तड़पन और व्रजके लिये श्रीकृष्णकी तड़पन—इन दोनोंका अनुभव प्राप्त कर उद्धवजी मिलन-विरहमय एक अनिर्वचनीय रसके समुद्रमें गोते खाने लगे। आइये, हम भी उस रस-समुद्रमें डुबकी लगा लें।

कैसा अपूर्व दृश्य है। सभी विरहकातर हैं, किंतु कोई किसीसे अदृश्य या पृथक् नहीं है। व्रजजन अपने मानस-नयनोंसे श्रीकृष्णका दर्शन कर रहे हैं और श्रीकृष्ण वैसे ही व्रजजनोंका दर्शन कर रहे हैं।

'तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।'

(गीता ६।३०)

मानो, ये सब गीताके उपर्युक्त मन्त्रके साकार विग्रह हैं। गीताकी वाणी श्रीमद्भागवतमें ही प्राणवान् हुई है। तभी श्रीश्रीबन्धुसुन्दरने लिखा है—

भक्तिशास्त्र भागवत सार करो अविरत रे।
अनासक्ति शुद्धा भक्ति भाव सुनिर्मल रे॥

(समाप्त)

(अनु०—श्रीचतुर्भुजजी तोषणीवाल)

रामचरितमानसमें परमानन्द-दर्शन

(श्रीओमप्रकाशजी अग्रवाल, एम्० ए० (हिन्दी, अंग्रेजी), एल्० टी०, साहित्यरत्न)

यद्यपि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके दार्शनिक विचारोंका और उनकी काव्यकलाका भरपूर विवेचन हुआ है, काव्य-सौष्ठव, भाव-भेद, रस-अलंकार-छन्द, संगीत, माधुर्य, शब्द-चयन एवं भाव-भाषाके साथ ब्रह्म-जीव-माया, निर्गुण-सगुण, लोकहित तथा ज्ञान-भक्तिकी भी विशद व्याख्या हुई है तथापि इन सबमें व्याप्त इन सबसे श्रेष्ठ उनमें एक ऐसी कलाके दर्शन होते हैं, जिसने 'रामचरितमानस'में रामके रूप-शील-सौन्दर्यके माध्यमसे आनन्द-ही-आनन्दका संचार किया है। कलाकी चरम सीमामें आनन्द परमानन्दकी अभिव्यक्ति करता है। जीवनमें कलाओंका विशेषकर ललित कलाओंका समावेश सौन्दर्य-सृजन-हेतु हुआ है। सौन्दर्य आनन्दका स्रोत है। अतएव मानवने अनेक रूपोंमें कलाओंका विकास किया है। काव्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला आदि आनन्दके अपरिमित स्रोत हैं।

श्रीगोस्वामीजीने रामके रूप-शील-वर्णनद्वारा एक ऐसे विलक्षण सौन्दर्यकी सृष्टि की है, जो मूर्त होते हुए भी अमूर्त, दैहिक होते हुए भी आध्यात्मिक और लौकिक होते हुए भी पारलौकिक है। वह भौतिक रूपमें भी परम सुन्दर है और आध्यात्मिक रूपमें भी उन्होंने रामके व्यक्तित्व और कृतित्वमें कलात्मक चेतनाकी वह भाव-भूमि प्रस्तुत की है, जिसमें चराचर, जड-चेतन सभी आनन्दविभोर हो उठते हैं—

चर अरु अचर हर्षजुत राम जनम सुखमूल ॥

गोस्वामीजीने रामचरितमानसमें काव्य, संगीत आदि कलाओंके द्वारा भगवान् श्रीरामके रूप-लावण्यमें इसी परमानन्दका दर्शन कराया है। भगवान् राम 'दाशरथि' होते हुए भी अगुन, अखण्ड, अनन्त, अनादि, व्यापक, परमानन्द साक्षात् सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं—

राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी। सर्ब रहित सब उर पुर बासी ॥

ब्रह्म और राममें कोई अन्तर नहीं है। वे राम भी कौन? कौसल्याके पुत्र—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद ॥

वे ही राम मानव-देह धारण करके संसारका मङ्गल करनेके लिये संसारमें अवतरित हुए हैं—

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा ॥
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना ॥

अतः ऐसे रूप-शील-गुण-धाम श्रीराम सहज ही सच्चे सौन्दर्यके प्रतीक हैं, जो वर्णनातीत हैं—

प्रगटे रामु कृतग्य कृपाला। रूप सील निधि तेज बिसाला ॥

× × ×

रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा।

और जनकपुरकी नारियोंकी असमर्थताको श्रीतुलसीदासजी—विशेष उक्तिके साथ व्यक्त करते हैं—

स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥

भगवान् श्रीरामके सौन्दर्य-दर्शनमें उनकी तन-मन-आत्मा-बुद्धि सब विभोर हैं। नेत्र जो उनके सौन्दर्यको देख रहे हैं, बोल नहीं सकते। जिह्वा, जो बोल सकती है, देख नहीं सकती। फिर 'कोटिकाम छबि' वाले श्यामल सौन्दर्यको किस प्रकार पूर्ण अभिव्यक्ति मिल सकती है। वह तो केवल अन्तरात्माकी अनुभूतिका विषय है।

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी ॥

विकारोंसे रहित निर्मल आत्मा ही उनके परम सौन्दर्यकी अनुभूति कर दिव्य-रसका रसास्वादन कर सकता है। गोस्वामीजीके शब्दोंमें महर्षि वाल्मीकि स्वयं श्रीरामके लिये उपयुक्त निवास-स्थानके निदेशनमें भगवान् श्रीरामसे कहते हैं—

काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा ॥
जिन्ह कें कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह कें हृदय बसहु रघुराया ॥

विकार दूर हो जानेपर तो वह परमानन्द अनायास ही प्राप्त हो जाता है—

नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा ॥

रामका जन्म एक अलौकिक घटना है। उनके आगमनके संकेतमात्रसे ही सम्पूर्ण लोक आनन्दमें निमग्न हो जाते हैं—

जा दिन तें हरि गर्भहिं आए। सकल लोक सुख संपति छाए ॥

और राम-जन्मपर तो मानो सुख-आनन्दका पारावार ही सर्वत्र प्रवाहित हो उठता है—

हरषवंत सब जहँ तहँ नगर नारि नर बृंद ॥

देवोंके हर्षका अन्त नहीं। सब-के-सब अयोध्याकी ओर दौड़ पड़े। माताओंके हर्षकी सीमा नहीं। अद्भुत रूपके आनन्दका रस ही निराला होता है—

हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी ॥

और दशरथजी तो मानो ब्रह्मानन्दमें ही लीन हो गये—

दसरथ पुत्रजन्म सुनि काना। मानहुँ ब्रह्मानंद समाना ॥

रामके मनोहर रूपसे दिग्-दिगन्तमें लोकोत्तर आनन्दका संचार हुआ है। पाठकोंका मन इसी दिव्य आनन्दका रसपान करते हुए मानसकी कथामें रमता चला जाता है। श्रीतुलसीदासजी पदे-पदे श्रीरामके व्यक्तित्वमें, लीलाओंमें, पराक्रममें और उनकी सौम्यतामें इसी अभिनव आनन्द-रसको परिपूर्ण करते चलते हैं और शनैः-शनैः उसे परमानन्दकी भाव-भूमिमें पहुँचा देते हैं। उनकी काव्य-कलाकी यही विशेषता है। श्रीरामका अनुपम सौन्दर्य देखिये—

काम कोटि छबि स्याम सरीरा। नील कंज बारिद गंभीरा ॥
अरुन चरन पंकज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती ॥

जनकपुरमें भ्रमण करनेके लिये जब श्रीराम निकले तो वहाँका वातावरण ही बदल गया। आनन्द और उत्साहकी सीमा ही न रही। युवतियाँ आश्चर्यचकित होकर उनके मनोहर रूपको निहारती ही रह गयीं—

हियँ हरषहिं बरषहिं सुमन सुमुखि सुलोचनि बृंद।
जाहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ तहँ तहँ परमानंद ॥

राजीवलोचन रामके दर्शन आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक तीनों प्रकारके कष्टोंका निवारण करनेवाला है। उनके रूपकी ज्योत्स्नामें सांसारिक संताप विनष्ट हो जाते हैं—

सुभग सोन सरसीरुह लोचन। बदन मयंक तापत्रय मोचन ॥

वन-गमनके समय गाँव-गाँव, नगर-नगर, सम्पूर्ण वातावरणमें राम-ही-राम समा गये हैं। राम-लक्ष्मण और जानकीजीका शील-सौन्दर्य ग्रामवासियोंके लिये, ऋषि-मुनियोंके लिये आकर्षणकी वस्तु बन गया है। ग्रामवधुएँ उनके परमानन्दी रूपका पीयूष अपने नयन-पुटोंसे पीकर तृप्त नहीं होतीं—

गाँव-गाँव अस होइ अनंदू। देखि भानुकुल कैरव चंदू ॥

× × ×

राम लखन सिय रूप निहारी। पाइ नयन फलु होहिं सुखारी ॥
पिअत नयन पुट रूपु पियूषा। मुदित सुअसनु पाइ जिमि भूखा ॥

और इसकी चिरन्तनता इससे प्रकट होती है कि जो भी उनके दर्शन करते हैं, वे भवका अगम मार्ग अनायास ही आनन्दपूर्वक तय कर लेते हैं—

जिन्ह जिन्ह देखे पथिक प्रिय सिय समेत दोउ भाइ।
भव मगु अगमु अनंदु तेइ बिनु श्रम रहे सिराइ ॥

उनके चरणोंके स्पर्शसे स्वयं भूमि भी अपने भाग्यकी सराहना करती है—

परसि राम पद पदुम परागा। मानति भूमि भूरि निज भागा ॥

चित्रकूटमें रामके वाससे एक नया आनन्द छा गया है। पशु-पक्षी क्या तृण-लता-द्रुमतक सब आनन्दविभोर हो गये हैं और अपनेको धन्य मानते हैं—

चित्रकूट के बिहग मृग बेलि बिटप तृन जाति।
पुन्य पुंज सब धन्य अस कहहिं देव दिन राति ॥

परशुराम, वाल्मीकि, अत्रि मुनि, सुतीक्ष्ण, जटायु आदि अपनी-अपनी स्तुतियोंमें श्रीरामके रूप-लावण्य, शील-सौन्दर्य, बल-पौरुष, मान-मर्यादाकी अमित प्रशंसा करते हैं और करते हैं आनन्दका प्रसार। राम '**कृपालु शील कोमलं**' होते हुए भी भक्तवत्सल, धर्मधुरन्धर और धीर-वीर हैं—

धरम धुरीन धीर नय नागर। सत्य सनेह सील सुख सागर ॥

ऐसे महान् शील-सौन्दर्यके प्रतीक राम अत्यन्त सरल-चित्त हैं। केवल सहज स्वाभाविक प्रेमसे ही द्रवित हो जाते हैं—

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा ॥

न केवल राम, उनके दर्शन और उनका नयनाभिराम रूप ही उस परमानन्दके अजस्र स्रोत हैं, वरन् उनका नाम, उनकी कथा, उनका चरित्र सब उस आनन्दके अनन्त सागर हैं—

बुध बिश्राम सकल जन रंजनि। राम कथा कलि कलुष बिभंजनि ॥

× × ×

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा ॥

× × ×

रामचरित चिंतामनि चारू। संत सुमति तिय सुभग सिंगारू ॥

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीताका योग

योगशब्दस्य गीतायामर्थस्तु त्रिविधो मतः।
सामर्थ्ये चैव सम्बन्धे समाधौ हरिणा स्वयम्॥

'योग' नाम मिलनेका है। जो दो सजातीय तत्त्व मिल जाते हैं, तब उसका नाम 'योग' हो जाता है। आयुर्वेदमें दो ओषधियोंके परस्पर मिलनेको 'योग' कहा है। व्याकरणमें शब्दोंकी संधिको 'योग' (प्रयोग) कहा है। पातञ्जलयोग-दर्शनमें चित्तवृत्तियोंके निरोधको 'योग' कहा है। इस तरह 'योग' शब्दके अनेक अर्थ होते हैं, पर गीताका 'योग' विलक्षण है।

गीतामें 'योग' शब्दके बड़े विचित्र-विचित्र अर्थ हैं। उनके हम तीन विभाग कर सकते हैं—

(१) **'युजिर् योगे'** धातुसे बना 'योग' शब्द, जिसका अर्थ है—समरूप परमात्माके साथ नित्य सम्बन्ध; जैसे—**'समत्वं योग उच्यते'** (२।४८) आदि। यही अर्थ गीतामें मुख्यतासे आया है।

(२) **'युज् समाधौ'** धातुसे बना 'योग' शब्द, जिसका अर्थ है—चित्तकी स्थिरता अर्थात् समाधिमें स्थिति; जैसे—**'यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया'** (६।२०) आदि।

(३) **'युज् संयमने'** धातुसे बना 'योग' शब्द, जिसका अर्थ है—सामर्थ्य, प्रभाव; जैसे—**'पश्य मे योगमैश्वरम्'** (९।५) आदि।

पातञ्जलयोगदर्शनमें चित्तवृत्तियोंके निरोधको 'योग' नामसे कहा गया है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** (१।१२) और उस योगका परिणाम बताया है—द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थिति हो जाना—**'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् वृत्तिसारूप्यमितरत्र।'** (१।३-४)। इस प्रकार पातञ्जलयोगदर्शनमें योगका जो परिणाम बताया गया है, उसीको गीतामें 'योग'के नामसे कहा गया है (२।४८; ६।२३)। तात्पर्य है कि गीता चित्तवृत्तियोंसे सर्वथा सम्बन्धविच्छेदपूर्वक स्वतःसिद्ध सम-स्वरूपमें स्वाभाविक स्थितिको 'योग' कहती है। उस समतामें स्थित (नित्ययोग) होनेपर फिर कभी उससे वियोग नहीं होता, कभी वृत्तिरूपता नहीं होती, कभी व्युत्थान नहीं होता। वृत्तियोंका निरोध होनेपर तो 'निर्विकल्प अवस्था' होती है, पर समतामें स्थित होनेपर 'निर्विकल्प बोध' होता है। 'निर्विकल्प बोध' अवस्थातीत और सम्पूर्ण अवस्थाओंका प्रकाशक तथा सम्पूर्ण योगोंका फल है।

जीवका परमात्माके साथ सम्बन्ध (योग) नित्य है, जिसका कभी किसी भी अवस्थामें, किसी भी परिस्थितिमें वियोग नहीं होता। कारण कि परमात्माका ही अंश होनेसे इस जीवका परमात्माके साथ सम्बन्ध नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों ही रहता है। शरीर-संसारके साथ संयोग होनेसे अर्थात् सम्बन्ध मान लेनेसे उस सम्बन्ध-(नित्ययोग-)का अनुभव नहीं होता। शरीर-संसारके साथ माने हुए संयोगका वियोग (विमुखता, सम्बन्ध-विच्छेद) होते ही उस नित्ययोगका अनुभव हो जाता है—**'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्'** (६।२३) अर्थात् दुःखोंके साथ संयोगका वियोग हो जानेका नाम 'योग' है *। तात्पर्य है कि भूलसे शरीर-संसारके साथ माने हुए संयोगका वियोग हो जाने और समरूप परमात्माके साथ सम्बन्धका उद्देश्य हो जाने, उसका अनुभव हो जानेका नाम 'योग' है। यह योग सब समयमें है, सब देशमें है, सब वस्तुओंमें है, सम्पूर्ण शरीरोंमें है, सम्पूर्ण घटनाओंमें है, सम्पूर्ण क्रियाओंमें है और तो क्या कहें, इस नित्ययोगका वियोग है ही नहीं, कभी हुआ नहीं, होगा नहीं और हो सकता ही नहीं। यही गीताका मुख्य योग है। इसी योगकी प्राप्तिके लिये गीताने कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, अष्टाङ्गयोग, प्राणायाम, हठयोग आदि साधनोंका वर्णन किया है। पर इन साधनोंको योग तभी कहा जायगा, जब असत्से सम्बन्ध-विच्छेद और परमात्माके साथ नित्य-सम्बन्धका अनुभव होगा।

इस नित्ययोगका अनुभव होनेमें असत्का सङ्ग ही बाधक है। कारण कि असत्के सङ्गसे ही राग-द्वेष,

---

* गीतामें 'योगः कर्मसु कौशलम्' (२।५०)—ऐसा वाक्य भी आया है, पर यह वाक्य योगकी परिभाषा नहीं है, प्रत्युत इसमें योगकी महिमा बतायी गयी है कि कर्मोंमें योग ही कुशलता है। कर्मोंमें योगके सिवाय और कोई महत्त्व नहीं है।

अनुकूलता-प्रतिकूलता, अच्छा-मन्दा आदि द्वन्द्व पैदा होते हैं। असत्से असङ्ग होते ही, असत्का सम्बन्ध-विच्छेद होते ही योगकी प्राप्ति हो जाती है।

योगकी प्राप्तिके लिये भगवान्ने मुख्यरूपसे दो निष्ठाएँ बतायी हैं—कर्मयोग और सांख्ययोग (३। ३)। असत्से सम्बन्ध-विच्छेद करना कर्मयोग है और सत्के साथ योग होना सांख्ययोग है; परंतु ये दोनों ही निष्ठाएँ साधकोंकी अपनी हैं। भक्तियोग साधककी अपनी निष्ठा नहीं है, प्रत्युत भगवन्निष्ठा है *। भक्त केवल भगवान्के सम्मुख हो जाता है तो उसपर सांसारिक सिद्धि-असिद्धिका कोई असर नहीं पड़ता। उसमें समता स्वतः आ जाती है।

तीनों योगोंसे कर्मों-(पापों-)का नाश

कर्मज्ञानभक्तियोगाः† सर्वेऽपि कर्मनाशकाः।
तस्मात् केनापि युक्तः स्यान्निष्कर्मा मनुजो भवेत्॥

गीतामें भगवान्ने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगोंसे सर्वथा कर्मों-(पापों-)का नाश होनेकी बात कही है; जैसे—

(१) कर्मयोग—जो साधक केवल यज्ञ- (कर्तव्य-कर्म-)की परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये, लोक-संग्रहके लिये, सृष्टि-चक्रकी परम्परा चलानेके लिये ही कर्तव्य-कर्मका पालन करता है अर्थात् कर्मोंको केवल दूसरोंके लिये ही करता है, अपने लिये नहीं, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है (३। १३)।

(२) ज्ञानयोग—देखने, सुनने और समझनेमें जो कुछ दृश्य आता है, वह सब अदृश्यतामें परिवर्तित हो रहा है। इन्द्रियों और अन्तःकरणके जितने विषय हैं, वे सब-के-सब पहले नहीं थे और फिर आगे नहीं रहेंगे तथा अभी वर्तमानमें भी प्रतिक्षण 'नहीं' में भरती हो रहे हैं। परंतु विषय तथा उसके अभावको जाननेवाला तत्त्व सदा ज्यों-का-त्यों ही रहता है। उस तत्त्वका कभी अभाव हुआ नहीं, होता नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं। उसी तत्त्वसे मैं-मेरा, तू-तेरा, यह-इसका और वह-उसका—ये चारों प्रकाशित होते हैं। वह तत्त्व (प्रकाश) इन सबमें ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। जैसे प्रज्वलित अग्नि काठको भस्म कर देती है, ऐसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मोंको, पापोंको भस्म कर देती है (४। ३७)। तात्पर्य है कि उस ज्ञानरूपी अग्निमें मैं-मेरा, तू-तेरा, यह-इसका और वह-उसका—ये सभी लीन हो जाते हैं।

(३) भक्तियोग—जो संसारसे विमुख होकर केवल भगवान्की ही शरण हो जाता है, उसको भगवान् सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर देते हैं। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तू सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर एक मेरी शरण हो जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता मत कर (१८। ६६)।

तीनों योगोंसे निर्वाण-पदकी प्राप्ति

कर्मज्ञानभक्तियोगैर्निर्वाणब्रह्म गम्यते।
उक्तमेतल्लक्ष्यसाम्यं साधकानां तु गीतया॥

सब साधकोंका प्रापणीय तत्त्व एक ही है। केवल साधकोंकी श्रद्धा, विश्वास, योग्यता, स्वभाव, रुचि आदि भिन्न-भिन्न होनेसे उनकी उपासनाओंमें, साधन-पद्धतियोंमें भिन्नता होती है। जैसे मनुष्योंमें भाषाभेद, वेशभेद, सम्प्रदायभेद आदि कई तरहके भेद होते हैं, पर सुख-दुःखका अनुभव सबको समान ही होता है। अर्थात् अनुकूलताके आनेपर सुखी होनेमें और प्रतिकूलताके आनेपर दुःखी होनेमें सब समान ही होते हैं, ऐसे ही संसारसे विमुख होकर परमात्माके सम्मुख होनेके साधन अलग-अलग हैं, पर परमात्माकी प्राप्तिमें सब एक हो जाते हैं अर्थात् परमात्मा, सुख-शान्ति सबको एक समान ही प्राप्त होते हैं।

---

* गीतामें जहाँ कर्मयोग और सांख्ययोग—ये दो ही निष्ठाएँ मानी गयी हैं, वहाँ भक्तियोगको स्वतन्त्र न मानकर उपर्युक्त दोनों निष्ठाओंके अन्तर्गत ही माना गया है। अतः वहाँ सांख्ययोगके दो भेद हो जाते हैं—विचारप्रधान सांख्ययोग (१३। १९-३४) और भक्तिमिश्रित सांख्ययोग (१३। १-१८)। इसी तरह कर्मयोगके भी तीन भेद हो जाते हैं—कर्मप्रधान कर्मयोग (१८। ४-१२), भक्तिमिश्रित कर्मयोग (१८। ४१-४८) और भक्तिप्रधान कर्मयोग (१८। ५६-६६)। परंतु जहाँ भक्तियोगको दो निष्ठाओंके अन्तर्गत न मानकर स्वतन्त्र माना जाता है, वहाँ सांख्ययोग और कर्मयोग—ये दोनों निष्ठाएँ साधकोंकी अपनी हैं और भक्तियोग भगवन्निष्ठा है। फिर तीनों योग स्वतन्त्र माने जाते हैं, उनमें किसीका मिश्रण नहीं रहता।

† (यहाँ इस श्लोकमें) 'र-विपुला' का प्रयोग हुआ है। इस प्रकारके प्रयोगको 'पिङ्गलच्छन्दःसूत्रम्' ग्रन्थके अनुसार 'पथ्यावक्त्र' नामक छन्दके अन्तर्गत ही माना गया है।

भगवान्‌ने गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग— इन तीनों योगोंसे निर्वाण-पदकी प्राप्ति बतायी है; जैसे—

(१) कर्मयोग—जो मनुष्य कामना, स्पृहा, ममता, अहंतासे रहित होता है, उसको शान्तिकी प्राप्ति होती है, यह ब्राह्मी स्थिति कहलाती है। इस ब्राह्मी स्थितिमें यदि कोई अन्तकालमें भी स्थित हो जाय तो भी उसे निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है (२।७१-७२)।

(२) ज्ञानयोग—जिसका बाह्य पदार्थोंका सम्बन्धजन्य सुख मिट गया है, जिसको केवल परमात्मतत्त्वमें ही सुख मिलता है, जो परमात्मतत्त्वमें ही रमण करता है, ऐसा ब्रह्मभूत साधक निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होता है। जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं, जिनकी द्विविधा मिट गयी है और जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं, वे निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। जो काम-क्रोधसे रहित हो चुके हैं, जिनका मन अपने अधीन है और जो तत्त्वको जान गये हैं—ऐसे साधकोंको जीते-जी और मरनेके बाद निर्वाण ब्रह्म प्राप्त है (५।२४-२६)।

(३) भक्तियोग—शान्त अन्तःकरणवाला, भयरहित और ब्रह्मचारिव्रतमें स्थित साधक मनका संयमन करके चित्तको मुझमें लगाकर मेरे परायण हो जाय तो उसको मेरेमें रहनेवाली निर्वाणपरमा शान्ति प्राप्त हो जाती है (६।१४-१५)।

तीनों योगोंकी एकता

वस्तुतस्तु त्रयो योगा अभिन्नास्ते परस्परम्।
साधकानां रुचेर्भेदात् त्रिविधा योगसंज्ञिताः॥

गीतामें तीनों योगोंमें तीनों योगोंकी बात आयी है; जैसे—

(१) कर्मयोग—इसमें **'युक्त आसीत मत्परः'** (२।६१), **'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा'** (३।३०), **'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि'** (५।१०)—यह भक्तियोगकी बात आयी है। **'सर्वभूतात्मभूतात्मा'** (५।७)—यह ज्ञानयोगकी बात आयी है; क्योंकि ज्ञानयोगमें परमात्मतत्त्वके साथ अभिन्नताकी बात मुख्य रहती है।

(२) ज्ञानयोग—इसमें **'सर्वभूतहिते रताः'** (५।२५; १२।४)—यह कर्मयोगकी बात आयी है; क्योंकि सब प्राणियोंके हितमें रति कर्मयोगकी मुख्य बात है। **'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'** (१३।१०), **'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते'** (१४।२६)—यह भक्तियोगकी बात आयी है; क्योंकि भक्तियोगमें भगवान्‌की अनन्यता मुख्य है।

(३) भक्तियोग—इसमें **'सर्वकर्मफलत्यागम्'** (१२।११) और **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'** (१८।४६)—यह कर्मयोगकी बात आयी है, क्योंकि कर्मयोगमें कर्मफलका त्याग और अपने कर्मोंके द्वारा जनता-जनार्दनका पूजन (सेवा) करना मुख्य होता है। **'अध्यात्मनित्याः'** (१५।५)—यह ज्ञानयोगकी बात आयी है; क्योंकि ज्ञानयोगमें चिन्मय तत्त्वमें स्थित रहना मुख्य है। **'ते ब्रह्म तद्विदुः'** (७।२९)—यह भी ज्ञानयोगकी बात है; क्योंकि ज्ञानयोगमें जानना मुख्य रहता है।

इस प्रकार तीनों योगोंका तीनों योगोंमें आनेका तात्पर्य है कि कोई भी व्यक्ति इन तीनों योगोंको परस्पर सर्वथा भिन्न न समझे; क्योंकि ये तीनों योग वास्तवमें भिन्न नहीं हैं, प्रत्युत एक ही हैं। इनमें केवल प्रणालीका भेद है।

एक दृष्टिसे कर्मयोग और भक्तियोग पासमें पड़ते हैं; क्योंकि कर्मयोगी सब कुछ (पदार्थ और क्रिया) संसारको देना चाहता है और भक्तियोगी सब कुछ भगवान्‌को देना चाहता है (९।२६-२७)।

एक दृष्टिसे कर्मयोग और ज्ञानयोग पासमें पड़ते हैं; क्योंकि कर्मयोगी पदार्थ और क्रियाकी आसक्ति छोड़कर संसारसे अलग होता है (६।४) और ज्ञानयोगी पदार्थ और क्रियाको प्रकृतिमात्र समझकर और अपनेमें असङ्गताका अनुभव करके संसारसे अलग होता है। तात्पर्य है कि कर्मयोगी 'क्रिया'के द्वारा संसारसे अलग होता है और ज्ञानयोगी 'विचार'के द्वारा संसारसे अलग होता है।

एक दृष्टिसे भक्तियोग और ज्ञानयोग पासमें पड़ते हैं; क्योंकि भक्तियोगी सब कुछ भगवान्‌से पैदा हुआ मानता है (७।१२; १०।५, ६, ८, ३९) और सब कुछ भगवान्‌में मानता है (६।३०; ७।७; ८।२२) तथा ज्ञानयोगी सब कुछ प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ मानता है (१४।१९; १८।४०) और सब कुछ प्रकृतिमें मानता है (१३।३०)।

तीनों योगोंमें कर्मोंका हेतु बननेका निषेध

हेतोः कथनतात्पर्यं सम्बन्धः स्यान्न कुत्रचित्।
तस्मान्निमित्तमात्रं वै भवेयुः साधकाः सदा॥

गीतामें भगवान्‌ने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनों योगोंमें हेतुओंका वर्णन किया है। जैसे—

(१) कर्मयोग—जब मनुष्य कर्मफलके साथ, कर्म करनेके करणोंके साथ, कर्म करनेकी सामग्रीके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है, तब वह कर्मका हेतु बन जाता है। ऐसे तो संसारमें बहुत-से कर्म होते रहते हैं, पर उन कर्मोंके हम हेतु नहीं बनते और उन कर्मोंका फल हमें नहीं मिलता; क्योंकि उन कर्मोंके साथ हमने सम्बन्ध नहीं जोड़ा। कर्मोंका फल तो उन्हींको मिलता है, जो कर्मफलके साथ सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। अतः कर्मयोगके प्रकरणमें भगवान् अर्जुनको मनुष्यमात्रका प्रतिनिधि बनाकर कहते हैं कि 'तुम कर्मफलके हेतु मत बनो'—'**मा कर्मफलहेतुर्भूः**' (२।४७) अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन तो तत्परतासे करो, पर कर्म, कर्मफल, करण आदिके साथ अपना सम्बन्ध मत जोड़ो। तात्पर्य है कि कर्मयोगी साधक कर्म, कर्मफल, शरीर आदि करणोंके साथ अपना सम्बन्ध नहीं मानता, इसलिये वह कर्मोंका हेतु नहीं बनता।

(२) ज्ञानयोग—प्रकृतिके राज्यमें, संसारमें, शरीरमें जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, सांख्ययोगी उन सबको प्रकृतिमें, गुणोंमें और इन्द्रियोंमें होनेवाली ही मानता है, अपनेमें होनेवाली नहीं। भगवान् कहते हैं कि प्रकृतिके द्वारा ही सब कर्म किये जाते हैं—ऐसा जो देखता है, वह अपनेमें अकर्तृत्वका अनुभव करता है (१३।२९)। गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं अर्थात् क्रियामात्र गुणोंमें ही हो रही है—ऐसा मानकर तत्त्ववित् पुरुष उसमें आसक्त नहीं होता (३।२८)। देखना, सुनना, स्पर्श करना आदि सभी क्रियाएँ इन्द्रियोंमें ही हो रही हैं, स्वरूपभूत मैं कुछ नहीं करता हूँ—ऐसा वह मानता है (५।८-९)। अतः सांख्ययोगके प्रकरणमें भगवान्‌ने कार्य और करणके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको उत्पन्न करनेमें प्रकृतिको हेतु बताया है—'**कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते**' (१३।२०)। सम्पूर्ण कर्मोंके होनेमें शरीर, कर्ता, करण, चेष्टा और संस्कार—ये पाँच हेतु बताये गये हैं (१८।१४)।

तेरहवें अध्यायमें बीसवें श्लोकके उत्तरार्धमें जो सुख-दुःखके भोक्तापनमें पुरुषको हेतु बताया है, वहाँ भी वास्तवमें सुखी-दुःखी होनेमात्रमें पुरुष हेतु है, भोक्तापनमें हेतु नहीं; क्योंकि भोग भी क्रियाजन्य ही होता है। अतः क्रियाजन्य भोगमें भी प्रकृति ही हेतु है। जो अपनेको प्रकृतिमें स्थित मानता है, वही पुरुष सुखी-दुःखी होता है (१३।२१); परंतु जो तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त होते हैं, वे सुखी-दुःखी नहीं होते। तात्पर्य है कि सांख्ययोगी साधक सम्पूर्ण क्रियाओंको प्रकृतिमें ही मानता है, अतः वह न कर्म करता है और न कर्म करवाता है (५।१३) अर्थात् वह किसी भी कर्म, कर्मफल आदिका हेतु नहीं बनता।

(३) भक्तियोग—जब भक्त भगवान्‌के सर्वथा समर्पित हो जाता है, अपने-आपको भगवान्‌को दे देता है, तो फिर करना-करवाना सब भगवान्‌के द्वारा ही होता है। भक्त तो केवल निमित्तमात्र बनता है। अतः भक्तियोगके प्रकरणमें भगवान्‌ने अपने प्रिय भक्त अर्जुनसे कहा कि यहाँ सेनामें जितने भी योद्धालोग खड़े हैं, वे सब मेरेद्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। इनके मारनेमें तू निमित्तमात्र बन जा—'**निमित्तमात्रं भव**' (११।३३)।

—इस प्रकार तीनों योगोंमें तीन हेतु देनेका तात्पर्य है कि तीनों ही योगोंके साधक कर्मोंको करनेमें अपनेको हेतु नहीं बनाते, प्रत्युत निमित्तमात्र ही रहते हैं। हाँ, लोगोंको वे हेतु बनते हुए दीख सकते हैं, पर वास्तवमें वे हेतु नहीं बनते।

'बाहरी पवित्रताकी अपेक्षा हृदयकी पवित्रता मनुष्यके चरित्रको उज्ज्वल बनानेमें बहुत अधिक सहायक होती है। मनुष्यको काम, क्रोध, हिंसा, वैर, दम्भ आदिके दुर्गन्धभरे कूड़ेको बाहर फेंककर हृदयको सदा साफ रखना चाहिये।'

'बाहरसे निर्दोष कहलानेका प्रयत्न न कर मनसे निर्दोष बनना चाहिये। मनसे निर्दोष मनुष्यको दुनिया दोषी बतलावे तो भी कोई हानि नहीं, परंतु मनमें दोष रखकर बाहरसे निर्दोष कहलाना हानिकारक है।'

'निर्दोष सत्कार्यको किसी भय, संकोच या अल्पमतके कारण कभी छोड़ना नहीं चाहिये, कार्यकी निर्दोषता, उसकी उपकारिता और तुम्हारी श्रद्धा, नेकनीयत तथा टेकके प्रभावसे आज नहीं तो कुछ समय बाद लोग उस कार्यको अवश्य अच्छा समझेंगे।'

साधनोपयोगी पत्र

(१)

प्रिय भाई !

अध्यात्म-जगत्‌में पैर रखते ही—यह जो कुछ है—अर्थात् मन तथा इन्द्रियोंके द्वारा जो जाना जाता है, वह उसका है, यह आस्तिक पुरुषकी प्रथम अवस्था है। इस भावके दृढ़ होनेसे मन सच्चिदानन्दघन शुद्धबोधस्वरूप परम तत्त्वमें स्वाभाविक ही स्थिर हो जाता है और मनके स्थिर होते ही, यह जो कुछ है, उसका ही स्वरूप है, ऐसा भाव होता है; क्योंकि मनका यह स्वभाव है कि यह जिससे सम्बन्ध करता है, उसका ही स्वरूप हो जाता है; क्योंकि मन वास्तवमें स्वतः सत्तावाला तत्त्व नहीं है। यह तो अज्ञानके कारण आत्मामें अनात्म-वस्तुकी जो कल्पना है, बस यही मनका स्वरूप है। और यह नियम है कि कल्पित वस्तु अधिष्ठानसे भिन्न कुछ नहीं होती और कल्पित वस्तुमें जो सत्यता प्रतीत होती है, वह वास्तवमें अधिष्ठानकी होती है, वस्तुकी कुछ नहीं। यह सब उसका ही स्वरूप है, ऐसा दृढ़ बोध होना दूसरी अवस्था है। और जो अन्तिम अवस्था है, वह वाणीके द्वारा कही नहीं जा सकती, किंतु संकेतमात्र यह कह सकते हैं कि यह जो कुछ था, वह वास्तवमें किसी कालमें हुआ ही नहीं, ऐसा अनुभव ज्ञानी पुरुषोंका कथन है।

देखो भाई! बन्धन तथा सुख-दुःख किसी वस्तुके सम्बन्धसे नहीं होता, किंतु कर्ताके अविवेक-दृष्टिके कारण प्रत्येक वस्तु दुःख और बन्धनका कारण बन जाती है और वही वस्तु विवेक-दृष्टिसे आनन्दका हेतु प्रतीत होती है। परंतु इस बातका अच्छी तरह ध्यान रहे कि वस्तुमें स्वयं सत्यता कुछ नहीं है, उसमें दृष्टि रखनेवाले द्रष्टाकी सत्यतासे सत्यता होती है। इसलिये द्रष्टाको अपनी दृष्टि अपनेमें लीन करनेसे परमानन्दकी प्राप्ति होती है, अतः यह सब कुछ ही मुँह-दिखावेके लिये उसकी भेंट करना होगा। आनन्द।

(२)

प्रिय आत्मस्वरूप !

अपनेसे भिन्न किसी भी वस्तुको सुखका साधन समझना परम भूल है; क्योंकि इसी भूलके होनेपर किसी-न-किसी प्रकारकी वासना तथा मलिन अहंकार अर्थात् (मैं शरीर हूँ) इस भावकी उत्पत्ति होती है, जो सर्वदुःखोंका मूल है।

शरीर-भाव और संसार दोनों बीज और वृक्षके समान हैं। शरीर-भावरूपी बीजके होनेपर संसार-रूपी वृक्ष प्रतीतिमात्र उत्पन्न होता है और संसाररूपी वृक्षमें अनन्त शरीरभाव-रूपी बीज दिखायी देते हैं। यह दोनों स्वरूपसे अभेद और प्रतीतिमात्र भेदवाले मालूम होते हैं। वास्तवमें दोनों एक हैं।

देखिये, जो वस्तु उत्पन्न होती है, वही नष्ट होती है। जो वस्तु नष्ट होती है, वह अपनी निजी सत्ता कुछ नहीं रखती। प्रत्युत जिससे उत्पन्न होती है, उसकी ही सत्तासे सत्तावाली होती है। उत्पन्न होनेके कारण अन्त होनेपर उस वस्तुका जो उत्पन्न हुई है, सदाके लिये अन्त हो जाता है। ऐसा विचार-दृष्टिसे देखनेमें आता है।

संसाररूपी वृक्ष शरीरभावरूपी बीजसे प्रतीतिमात्र उत्पन्न होता है। स्वरूपसे नहीं; क्योंकि जो वस्तु स्वरूपसे होती है, उसका किसी कालमें अन्त नहीं होता। परंतु संसारका अन्त देखनेमें आता है। इसलिये सिद्ध हुआ कि संसार स्वरूपसे कोई वस्तु नहीं, केवल प्रतीतिमात्र है, जिस प्रकार दर्पणमें मुख न होते हुए भी प्रतीत होता है। शरीर-भावरूपी बीज तथा संसाररूपी वृक्ष उससे ही उत्पन्न होता है, जो तत्त्ववेत्ताओंका निज स्वरूप तथा भक्तोंका भगवान् है। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। अतएव सारा विश्व आपका निज स्वरूप ही सिद्ध हुआ। इसलिये विश्वमें अपनेको और अपनेमें विश्वको अनुभव करो, ऐसा करनेपर जीवनमें किसी प्रकारकी कमी शेष नहीं रहती और ऐसा बिना अनुभव किये पूर्णता कभी प्राप्त नहीं हो सकती।

ऐसा अनुभव करनेके लिये अपनेमें स्थायीभावसे सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दघन शुद्ध बोधस्वरूप भगवान्‌की स्थापना करो। अर्थात् 'वह मैं हूँ' ऐसा करनेपर विश्वसे एकता स्वयं अनुभव होगी और हृदय स्वाभाविक विश्वप्रेमसे भर जायगा। मन सदा निजानन्दकी लहरोंमें लहरायेगा। सब ओर अपना आप ही नजर आयेगा। आनन्द, आनन्द, आनन्द।

कहानी— भगवती सीता तथा द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त

धर्मध्वज और कुशध्वज—इन दोनों नरेशोंने कठिन तपस्याद्वारा भगवती लक्ष्मीकी उपासना करके अपने प्रत्येक अभीष्ट मनोरथको प्राप्त कर लिया। महालक्ष्मीके वर-प्रसादसे उन्हें पुनः पृथ्वीपति होनेका सौभाग्य प्राप्त हो गया। वे दोनों धनवान् और पुत्रवान् हो गये। कुशध्वजकी भार्याका नाम मालावती था। समयानुसार उसके एक कन्या उत्पन्न हुई, जो लक्ष्मीका अंश थी। वह भूमिपर पैर रखते ही ज्ञानसे सम्पन्न हो गयी। उस कन्याने जन्म लेते ही सूतिकागृहमें स्पष्ट स्वरसे वेदके मन्त्रोंका उच्चारण किया और उठकर खड़ी हो गयी। इसलिये विद्वान् पुरुष उसे 'वेदवती' कहने लगे। उत्पन्न होते ही उस कन्याने स्नान किया और तपस्या करनेके विचारसे वह वनकी ओर चल दी। भगवान् नारायणके चिन्तनमें तत्पर रहनेवाली उस देवीको प्रायः सभीने रोका, परंतु उसने किसीकी भी न सुनी। वह तपस्विनी कन्या एक मन्वन्तरतक पुष्करक्षेत्रमें तपस्या करती रही। उसका तप अत्यन्त कठिन था, तो भी लीलापूर्वक चलता रहा। अत्यन्त तपोनिष्ठ रहनेपर भी उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट बना रहा। उसमें दुर्बलता नहीं आ सकी। वह नवयौवनसे सम्पन्न बनी रही। एक दिन सहसा उसे स्पष्ट आकाशवाणी सुनायी पड़ी—'सुन्दरि! अगले जन्ममें भगवान् श्रीहरि ही तुम्हारे पति होंगे। ब्रह्मा प्रभृति देवता भी जिनकी उपासना करते हैं, उन्हीं परम प्रभुको स्वामी बनानेका सौभाग्य तुम्हें प्राप्त होगा।'

यह आकाशवाणी सुननेके पश्चात् वह कन्या रुष्ट होकर गन्धमादन पर्वतपर चली गयी और वहाँ पहलेसे भी अधिक कठोर तप करने लगी। वहाँ चिरकालतक तप करके विश्वस्त हो वहीं रहने लगी। एक दिन वहाँ उसे अपने सामने दुर्निवार रावण दिखायी पड़ा। वेदवतीने अतिथि-धर्मके अनुसार पाद्य, परम स्वादिष्ट फल और शीतल जल देकर उसका सत्कार किया। रावण बड़ा पापिष्ठ था। वह वेदवतीके समीप जा बैठा और पूछने लगा—'कल्याणि! तुम कौन हो और क्यों यहाँ ठहरी हुई हो?' वह देवी परम सुन्दरी थी। उस साध्वी कन्याके मुखपर मन्द मुस्कानकी छटा छायी रहती थी। उसे देखकर दुराचारी रावणका हृदय विकारसे संतप्त हो गया। वह वेदवतीको हाथसे खींचकर उसका शृंगार करनेको उद्यत हुआ। रावणकी इस कुचेष्टाको देखकर उस साध्वीका मन क्रोधसे भर गया। उसने रावणको अपने तपोबलसे इस प्रकार स्तम्भित कर दिया कि वह जडवत् होकर हाथों एवं पैरोंसे निश्चेष्ट हो गया। कुछ भी कहने-करनेकी उसमें क्षमता नहीं रह गयी। ऐसी स्थितिमें उसने मन-ही-मन उस कमललोचना देवीका मानस स्तवन किया। देवी वेदवती रावणपर संतुष्ट हो गयी और परलोकमें उसकी स्तुतिका फल देना स्वीकार कर लिया। साथ ही उसे यह शाप दे दिया—'दुरात्मन्! तू मेरे लिये ही अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ कालका ग्रास बनेगा; क्योंकि तूने कामभावसे मुझे स्पर्श कर लिया है, अतः अब मैं इस शरीरको त्याग देती हूँ।'

देवी वेदवतीने इस प्रकार कहकर वहीं योगद्वारा अपने शरीरका त्याग कर दिया। तब रावणने उसका मृत शरीर गङ्गामें डाल दिया और मनमें इस प्रकार चिन्ता करते हुए घरकी ओर प्रयाण किया—'अहो! मैंने यह कैसी अद्भुत घटना देखी। यह मैंने क्या कर डाला?'—इस प्रकार विचार करके अपने कुकृत्य और उस देवीके देहत्यागको स्मरण करके रावण बहुत विषाद करने लगा। वही देवी साध्वी वेदवती दूसरे जन्ममें जनककी कन्या हुई और उसका नाम सीता पड़ा, जिसके कारण रावणको मृत्युका मुख देखना पड़ा था। वेदवती बड़ी तपस्विनी थी। पूर्वजन्मकी तपस्याके प्रभावसे स्वयं भगवान् श्रीराम उसके पति हुए। ये श्रीराम साक्षात् परिपूर्णतम श्रीहरि हैं। देवी वेदवतीने घोर तपस्याके द्वारा आराधना करके इन जगदीश्वरको पतिरूपमें प्राप्त किया था। वह साक्षात् रमा थी। श्रीराम परम गुणी, समस्त सुलक्षणोंसे सम्पन्न, शान्त-स्वभाव, अत्यन्त कमनीय एवं श्रेष्ठतम देवता थे। वेदवतीने ऐसे मनोऽभिलषित स्वामीको प्राप्त किया। कुछ कालके पश्चात् रघुकुलभूषण, सत्यसंध भगवान् श्रीराम पिताके सत्यकी रक्षा करनेके लिये वनमें पधारे। वे सीता और लक्ष्मणके साथ समुद्रके समीप ठहरे थे। वहाँ ब्राह्मणरूपधारी अग्निसे उनकी भेंट हुई। भगवान् श्रीरामको दुःखी देखकर विप्ररूपधारी अग्निका मन संतप्त हो उठा। तब सर्वथा सत्यवादी उन अग्निदेवने सत्यप्रेमी भगवान् श्रीरामसे ये सत्यमय वचन कहे—'भगवन्! मेरी कुछ प्रार्थना सुनिये। श्रीराम! यह

सीताके हरणका समय उपस्थित है। ये मेरी माँ हैं, इन्हें मेरे संरक्षणमें रखकर आप छायामयी सीताको अपने साथ रखिये, फिर अग्नि-परीक्षाके समय इन्हें मैं आपको लौटा दूँगा। परीक्षा-लीला भी हो जायगी। इसी कार्यके लिये मुझे देवताओंने यहाँ भेजा है। मैं ब्राह्मण नहीं साक्षात् अग्नि हूँ।'

भगवान् श्रीरामने अग्निकी बात सुनकर लक्ष्मणको बताये बिना ही व्यथित-हृदयसे अग्निके प्रस्तावको मान लिया। उन्होंने सीताको अग्निके हाथों सौंप दिया। तब अग्निने योगबलसे मायामयी सीता प्रकट की। उसके रूप और गुण साक्षात् सीताके समान ही थे। अग्निदेवने उसे श्रीरामको दे दिया। मायासीताको साथ ले वे आगे बढ़े। इस गुप्त रहस्यको प्रकट करनेके लिये भगवान् श्रीरामने उसे मना कर दिया। यहाँतक कि लक्ष्मण भी इस रहस्यको नहीं जान सके, फिर दूसरेकी तो बात ही क्या है? इसी बीच भगवान् श्रीरामने एक सुवर्णमय मृग देखा। सीताने उस मृगको लानेके लिये भगवान् श्रीरामसे अनुरोध किया। भगवान् श्रीराम उस वनमें जानकीकी रक्षाके लिये लक्ष्मणको नियुक्त करके स्वयं मृगको मारनेके लिये चले। उन्होंने बाणसे उसे मार गिराया। मरते समय उस मायामृगके मुखसे 'हा लक्ष्मण!' यह शब्द निकला। फिर सामने श्रीरामको देख उनका स्मरण करते हुए उसने सहसा प्राण त्याग दिये। मृगका शरीर त्यागकर वह दिव्य देहसे सम्पन्न हो गया और रत्ननिर्मित दिव्य विमानपर सवार होकर वैकुण्ठधामको चला गया। यह मारीच पूर्वजन्ममें वैकुण्ठधामके द्वारपर वहाँके द्वारपाल जय और विजयका किंकर था तथा वहीं रहता था। वह बड़ा बलवान् था। उसका नाम था 'जित'। सनकादिकोंके शापसे जय-विजयके साथ वह भी राक्षस-योनिमें आ गया था। उस दिन उसका उद्धार हो गया और वह उन द्वारपालोंके पहले ही वैकुण्ठके द्वारपर पहुँच गया।

तदनन्तर 'हा लक्ष्मण' इस कष्टभरे शब्दको सुनकर सीताने लक्ष्मणको श्रीरामके पास जानेके लिये प्रेरित किया। लक्ष्मणके चले जानेपर रावण सीताका अपहरण कर खेल-ही-खेलमें लङ्काकी ओर चल दिया। उधर लक्ष्मणको वनमें देखकर श्रीराम विषादमें डूब गये। वे उसी क्षण अपने आश्रमपर गये और सीताको वहाँ न देख विलाप करने लगे। पुनः सीताको खोजते हुए वे बारंबार वनमें चक्कर लगाने लगे। कुछ समयके पश्चात् गोदावरी नदीके तटपर उन्हें जटायुद्वारा सीताका समाचार मिला। तब वानरोंको अपना सहायक बनाकर उन्होंने समुद्रमें पुल बाँधा। उसके द्वारा लङ्कामें पहुँचकर उन रघुश्रेष्ठने अपने बाणसे बन्धु-बान्धवोंसहित रावणका वध कर डाला। तत्पश्चात् उन्होंने सीताकी अग्नि-परीक्षा करायी। अग्निदेवने उसी क्षण वास्तविक सीताको भगवान् श्रीरामके सामने उपस्थित कर दिया, तब छायासीताने अत्यन्त नम्र होकर अग्निदेव और भगवान् श्रीराम—दोनोंसे कहा—'महानुभावो! अब मैं क्या करूँगी, सो बतानेकी कृपा कीजिये।'

तब भगवान् श्रीराम और अग्निदेव बोले—'देवि! तुम तप करनेके लिये अत्यन्त पुण्यप्रद पुष्करक्षेत्रमें चली जाओ। वहाँ रहकर तपस्या करना, इसके फलस्वरूप तुम्हें स्वर्गलक्ष्मी बननेका सुअवसर प्राप्त होगा।'

भगवान् श्रीराम और अग्निदेवके वचन सुनकर छाया-सीताने पुष्करक्षेत्रमें जाकर तप आरम्भ कर दिया। उसकी कठिन तपस्या बहुत लम्बे कालतक चलती रही। इसके पश्चात् उसे स्वर्गलक्ष्मी होनेका सौभाग्य प्राप्त हो गया। समयानुसार वही छाया-सीता राजा द्रुपदके यहाँ यज्ञकी वेदीसे प्रकट हुई। इंसका नाम 'द्रौपदी' पड़ा और पाँचों पाण्डव उसके पतिदेव हुए। इस प्रकार सत्ययुगमें कुशध्वजकी कन्या वही कल्याणी वेदवती त्रेतायुगमें छायारूपसे सीता बनकर भगवान् श्रीरामकी सहचरी तथा द्वापरयुगमें द्रुपदकुमारी द्रौपदी हुई। अतएव इसे 'त्रिहायणी' कहा गया है।

जब लङ्कामें वास्तविक सीता भगवान् श्रीरामके पास विराजमान हो गयीं, तब रूप और यौवनसे शोभा पानेवाली छायासीताकी चिन्ताका पार न रहा। वह भगवान् श्रीराम और अग्निदेवके आज्ञानुसार भगवान् शंकरकी उपासनामें तत्पर हो गयी। पति प्राप्त करनेके लिये व्यग्र होकर वह बार-बार यही प्रार्थना कर रही थी—'भगवान् त्रिलोचन! मुझे पति प्रदान कीजिये।' यही शब्द उसके मुखसे पाँच बार निकले। भगवान् शंकर छायासीताकी यह प्रार्थना सुनकर बोले—'तुम्हें पाँच पति मिलेंगे।' इस प्रकार त्रेताकी जो छाया-सीता थी, वही द्वापरमें द्रौपदी बनी और पाँचों पाण्डव उसके पति हुए। (ब्रह्मवैवर्त०, प्रकृतिखण्ड अ० १४)

पूजा करते समय आपके विचार क्या हों ?

(डॉ॰ श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्॰ ए॰, पी-एच्॰ डी॰)

पूजाका अभिप्राय है—मानव और ईश्वरकी एकता। उच्च चरित्र और पवित्र जीवनके अभिलाषी भक्तका निम्न कोटिके पाशविक सुख, इन्द्रियजन्य हर्ष और साधारण आनन्दका परित्याग कर आध्यात्मिक स्थितिमें ऊँचा उठना ही उसके द्वारा ईश्वरकी पूजा करना है। वह यह मानकर चलता है कि संसारमें स्थायी सुख-शान्तिका मार्ग गीतामें निर्दिष्ट 'श्रीकृष्णार्पण'का भाव है। भक्तके सब कार्य अपने लिये न होकर भगवान्‌के लिये, समाज और विश्वके हितके लिये होते हैं। उसका दृष्टिकोण पारमार्थिक होता है। वह अपने आस-पासके पीड़ित, गिरे हुए, पिछड़े हुए, अज्ञानी, अशिक्षित, दीनहीन गरीबोंके लिये भी कुछ करना चाहता है। उसका जीवन सेवाभावी होता है। वह समाजके पिछड़े वर्गकी सेवामें ही भगवान्‌की सेवा मानता है। इसलिये पूजा करते समय ईश्वरीय तत्त्वसे मिलनके विचार प्रचुरतासे भक्तके मनमें आने चाहिये। ये शुभ विचार ही उसके जीवनमें पवित्रता और सांसारिक सुखके प्रति वैराग्य लानेवाले हैं। पूजा करते समय कौनसे विचार आप मनमें लायें ? यह सबके लिये अलग-अलग होगा। जिसकी जैसी भावना और शिक्षा होगी, वह वैसे ही विचार मनमें दृढ़ करेगा। बार-बार उन्हें आवृत्त करेगा, प्रत्येक शब्दपर गम्भीर चिन्तन करेगा, मनन करेगा और उन्हें अपने मानसका एक स्थायी अङ्ग बना लेगा। ये शुभ विचार ही उसके नैतिक जीवनका निर्माण करेंगे।

अपनी पूजाके समय अनुवृत्तिके लिये नीचे लिखे शुभ विचारोंको दृढ़तासे मनमें बसायें—उन्हें याद करें, वैसे ही उत्तम कार्य करें—

'मैं परमात्माका प्यारा पुत्र हूँ। मुझे परमपिता परमात्माका समस्त प्रेम, सुरक्षा, शान्ति और शुभ प्रेरणा प्राप्त है। परमात्मा मुझे सद्विवेक, सद्विचार, सत्-शक्ति प्रदान कर रहे हैं। मैं परमात्मामें स्थिर हूँ और मेरा हृदय-मन्दिर परमात्माका निवास है।

मेरे परमपिता मेरे रक्षक और पथ-प्रदर्शकके रूपमें सदा साथ रहते हैं। मैं उनसे अलग नहीं हूँ, फिर सांसारिक दुःख, चिन्ताएँ और घबराहट मुझे कैसे विचलित कर सकते हैं ? मेरा जीवन मेरी इच्छासे नहीं, वरन् परमात्माकी दिव्य योजनासे संचालित होता है। परमात्मा ही मुझमें दिव्य विचार, पवित्र इच्छा, सेवा-भावना स्फुरित करते हैं। मेरे कार्योंका मूल ईश्वर है। मुझमें स्फुरित भव्य भावनाएँ वास्तवमें परमात्माकी प्रेरणा हैं।

यह शरीर, ये हाथ, ये नेत्र, यह बुद्धि सब कुछ मेरी वस्तुएँ नहीं, वरन् परमात्माकी हैं। मैं आत्मा हूँ। ईश्वरका पवित्र अंश हूँ। मेरी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। मेरा कार्य परमात्माकी प्रेरणासे होता है। मैं स्वयं अपना कोई नहीं हूँ, वरन् परमात्माका हूँ। इसलिये मुझे किसीसे द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, शङ्का, चिन्ता, भय करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह परमात्माके पुत्रके लिये व्यर्थ है।

इस प्रकार परमात्मनिष्ठ होकर मुझे संतोष और सुख है। समाजकी, परिवारकी, घर-गृहस्थीकी, व्यापारकी अथवा और किसी प्रकारकी भी जिम्मेदारी अब मुझे स्वयंपर नहीं है, वरन् परमात्मापर है, जिनका यह संसार और संसारका प्रत्येक प्राणी है। मुझे जो भी उत्तम धर्म-कार्य करने होते हैं, वे सब परमात्माकी प्रेरणा और आदेशसे ही होते हैं। मैं तो परमात्माका साधन और निमित्तमात्र हूँ। मुझे यह संतोष है कि मेरा जीवन और विचार सब परमात्माके द्वारा प्रेरित हैं। मैं न तो अपने जन्मके साथ कुछ लेकर आया था और न ले जाऊँगा, फिर मुझे किसी संग्रहकी आवश्यकता नहीं है'—यह भावना प्रतिदिन प्रातः उठने और रात्रिमें सोनेसे पूर्व बार-बार मनमें रखें, इससे आपका जीवन ईश्वरमय हो जायगा। पूजा हमें शुभ संकल्प देती है। प्रतिदिन इच्छा बननेकी प्रेरणा देती है, जिससे जीवन उदात्त बनता है। श्रुति भी कहती है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(ईशोपनि॰ २)

अर्थात् ईश्वरपूजार्थ इस जगत्‌में मनुष्यको शास्त्र-नियमित कर्म करते हुए सौ वर्षोंतक जीवित रहनेकी इच्छा करनी चाहिये। इस प्रकार आचरित कर्म मनुष्यमें लिप्त नहीं होते। यही कर्माचरण या पूजाका सर्वोत्तम मार्ग है। कर्मबन्धन—संसारसे मुक्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

आधा सेर दूध

बहुत समय पहलेकी घटना है। कोल्हपुर राज्य और ब्रिटिश राज्यकी बीच सीमापर धुंदकी नामक एक छोटा-सा गाँव है। कुछ कसाई कोल्हापुर राज्यमें गौएँ खरीदकर अंग्रेजी राज्यमें ले जाते हुए इस गाँवके जंगलमें पहुँचे, उनके साथकी गौओंमें कुछ बछियाएँ भी थीं। इन्हें क्या पता, कि हमें जीवनके उस पार उतारा जा रहा है। पर इतना तो वे समझती थीं कि किन्हीं कठोर हाथोंने हमें बाँधा है। इस बन्धनको तुड़ाकर वे निकल भागना चाहती थीं। उनकी पीठपर कसाइयोंके डंडे पड़ रहे थे। फिर भी वे बन्धन तुड़ाकर भागनेका प्रयत्न कर ही रही थीं। उनमेंसे एक किसी तरह वहाँसे निकल भागी और सीधे गाँवके मुखियाके घरमें घुस गयी। कसाईके नौकर उसके पीछे लगे थे, पर वह उनके हाथ न आयी।

कसाइयों और गौओंका यह रंग-ढंग देखकर गाँवके चरवाहोंने बाकी गौओंको भी भगा दिया। तब कसाइयों और चरवाहोंमें बहुत कहा-सुनी हुई। शरणागतको भला हिंदू होकर वे कैसे छोड़ सकते थे ? हिंदू-धर्मकी तो यह एक मुख्य बात है—

सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥

एक तो शरणागत, दूसरे गोमाता, जिसके लिये पूर्वके लोगोंने अपने प्राणतक न्योछावर किये। ऐसे सुदृढ़ परम्परागत संस्कार जिनके हैं, वे ग्वाले-गड़रिये भला उस गौको कैसे छोड़ देते ! बहुत विवाद हुआ, हाँ-नहीं करते-करते बात उस गौकी कीमतपर आयी। कसाई रुपया देनेको तैयार हुए, पर वे ग्वाले किसी भी कीमतपर उसे देनेके लिये तैयार नहीं हुए। आखिर झगड़ेकी नौबत आ गयी। एक तरफ ये तीन-चार कसाई और दूसरी तरफ गाँवके सब लोग ! कसाइयोंके मिजाज ठंडे हुए, तब उन्होंने सरकार-दरबारका रास्ता लिया। उन्हें अंग्रेजी हुकूमतका बल था और जिस मुखियाके यहाँ वह गौ स्वयं आ गयी थी, उसे धर्मकी एकताका बल था। अन्तमें मुखिया और गाँवके सब लोग गौको साथ लेकर महाराजके पास गये और उसे महाराजके सामने करके सारा हाल कह सुनाया और बोले—'आप गौ-ब्राह्मण-प्रतिपालक हैं, इसे हमलोग आपके हवाले करते हैं, आप चाहे इसे कसाइयोंके हाथमें दें, अंग्रेज सरकारको दे डालें या गाँववालोंको दे दें। आप ही इसके विधाता हैं।' महाराजने गाँववालोंका कहना सुन-समझ लिया, गौ गाँववालोंको ही सौंप दी और यह आज्ञा की कि 'करवीर (कोल्हापुर) राज्यमें कसाई रोजगार न करें।'

इससे गाँववाले बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने वह गौ गाँवके शिवालयमें श्रीशंकरजीको अर्पण कर दी। तबसे मृत्यु होनेतक वह गौ उसी शिवालयमें थी, कभी किसीके खेतमें नहीं गयी, किसी पशुसे लड़ी नहीं, कभी ऋतुमती भी नहीं हुई, पर जिस दिन श्रीशिवार्पित हुई, उस दिनसे अपने जीवनके अन्तिम दिनतक शिवजीके पञ्चामृतके लिये प्रतिदिन आधा सेर दूध दिया करती थी। यह बड़ी विलक्षण बात थी।

(२)

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः

घटना गत वर्ष १९८८ई० की है। मैं बम्बई-स्थित एक पाठशालामें शिक्षक हूँ। एक बार मैं अपने गाँव गया। एक आवश्यक कामसे मुझे वहाँसे एक-दूसरे गाँव जाना पड़ा। काम हो जानेपर वापस आनेके लिये सड़कपर खड़ा होकर मैं बसकी प्रतीक्षा कर रहा था। तभी मैंने देखा नौ-दस वर्षके दो तीन उद्धत बालक एक निर्बल, अशक्त और हड्डियोंके ढाँचे-से कुत्तेको पत्थर मार-मार कर कष्ट पहुँचा रहे थे। शक्तिहीन कुत्ता कराहता-कराहता निकटकी एक गर्तमें गिर पड़ा।

जैसे इतना कम हो, वे लड़के बड़े-बड़े सशक्त कुत्तोंको ले आये और उस गर्तमें पड़े निःसहाय कुत्तेकी तरफ अँगुली दिखा-दिखाकर उन्हें उत्तेजित करने लगे। वे सशक्त कुत्ते उछल-उछल कर उस कुत्तेकी तरफ बढ़ने लगे। लड़के हँसते जाते थे और तालियाँ पीटते जाते थे।

अब मुझसे देखा नहीं गया। मैंने उन लड़कोंको आवाज देकर अपने पास बुलाया, लेकिन वे भाग गये। मैंने उनके साथके कुत्तोंको भी खदेड़ दिया। वह जख्मी कुत्ता एक वृक्षके

सूखे पत्तोंके ढेरमें अपना शरीर छुपाकर पड़ा था। वहाँ जाकर मैंने देखा तो वह मेरी तरफ एकटक देख रहा था।

वह जैसे मानवोंके तिरस्कृत व्यवहारके लिये धिक्कारभरी नजरोंसे मुझे कुछ कह रहा था या फिर मैंने उसे करुणावश यातनासे छुड़ाया था, इस आभारवश वह मेरी तरफ देख रहा था। मैं उसके निकट पहुँचा, तब उसकी आँखमें मैंने भयका प्रतिबिम्ब देखा। अन्तिम……लगभग अन्तिम श्वास लेते हुए उसने अपनेमें शेष रही सारी शक्ति एकत्र की और अशक्त पैरोंसे खड़ा हो, वहाँसे कहीं चले जानेकी सोचने लगा, लेकिन वह उठ नहीं सका। उठनेके साथ ही गिर पड़ा। उसकी स्थिर दृष्टि मेरी तरफ ही लगी थी और वह सचमुच ही हृदयद्रावक थी।

वह जैसे मुझे कह रहा था—'मानव-जातिके प्रति वफादारीका बदला तो देखिये ! वह मुझे सुखसे मरने भी नहीं देते।'

मैं वहाँसे हट नहीं सका और न उसकी तरफसे नजर हटा सका। जैसे उसकी दृष्टि मुझे आपबीती कह रही थी—

'मैं मानवोंका मूक सेवक हूँ। मैंने जीवनभर उसकी सेवा की है। अरे, उसके सुख-दुःखका मैं साथी बना, उसका उच्छिष्ट खाकर मैंने संतोष माना। लेकिन जब मैं वृद्ध हुआ और रोगी बना, तब मुझे निकाल बाहर कर दिया गया। निर्दय लोगोंके हाथका खिलौना बननेके लिये छोड़ दिया गया। अरे, धिक्कार है तुम मानव लोगोंको !'

मैं कुछ भी नहीं बोल सका और कुत्ता—निष्प्राण कुत्ता मुझे बहुत कुछ कह गया हो ऐसा मुझे लगा। मन-ही-मन श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर बसकी प्रतीक्षा किये बिना भारी हृदयसे वहाँसे पैदल ही चल पड़ा। चलते-चलते मेरे मनमें कई विचार उठने लगे। मानवीय गुणोंकी रक्षाके लिये जीव-दयाका कितना महत्त्व है। इसीलिये ऋषि-महर्षियोंने कहा है कि पण्डित या विद्वान् वही है, जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपनी ही तरह सुख-दुःखकी अनुभूति करता है।

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।

(अखण्ड आनन्द)

(३)

मातृभाषाका प्रयोग

कुछ दिनों-पूर्वकी बात है—एक भारतीय शिक्षक यूरोपकी यात्रापर गये थे। वे बलगेरिया पहुँचे। वहाँकी राजधानी 'सोफिया' है। सोफिया नगरके एक विश्वविद्यालयके निमन्त्रणपर वे वहाँ प्रवचन करने गये थे। विश्वविद्यालयके कुलपति उस सभाके प्रमुख आयोजक थे। भारतीय शिक्षक उनसे जाकर मिले। उन्होंने भारतीय शिक्षकसे पूछा—'आप किस भाषामें बोलेंगे ?'

शिक्षकने कहा—'अंग्रेजीमें।'

कुलपतिने आश्चर्यके साथ पूछा—'क्या आपकी मातृभाषा अंग्रेजी है ?

शिक्षकने कहा—'जी नहीं, मेरी मातृभाषा हिन्दी है।'

कुलपतिने पूछा—'तो हिन्दीमें नहीं बोल सकेंगे ?'

शिक्षकने कहा—'बोल सकूँगा।'

कुलपतिका अगला प्रश्न था—'तो फिर अपनी मातृभाषाके बदले अंग्रेजीमें बोलना क्यों चाहते हैं ?'

'मेरी हिन्दी भाषा यहाँ कोई नहीं समझेगा। मेरा ख्याल है अंग्रेजी समझनेवाले यहाँ सभी होंगे। इसीलिये अंग्रेजीमें बोलनेका मैंने निर्णय किया है।' शिक्षकने कहा और फिर अपनी बात स्पष्ट करते हुए वे बोले—'हिन्दीमें बोलनेपर आपकी बलगेरियन भाषामें उसका अनुवाद समझानेवाला यहाँ शायद कोई हो भी नहीं।'

कुलपतिने कहा—'हमारे यहाँ अंग्रेजी जाननेवाले भी नहीं हैं और हिन्दी जाननेवाले भी नहीं हैं। हमारी मातृभाषा बलगेरियन है। हमारे स्कूल-कालेजोंमें यहाँकी मातृभाषामें ही शिक्षा दी जाती है। लेकिन हमें दूसरी भाषाओंके जाननेकी भी जरूरत पड़ती है, इसलिये हमारी सरकारने अन्य भाषाओंके सीखनेकी भी व्यवस्था की है। केवल हिन्दी जाननेवाले ही नहीं, अपितु किसी भी बड़े देशकी भाषा जाननेवाले हमारे विश्वविद्यालयमें हैं।'

यह बात सुनकर शिक्षकने मन-ही-मन लज्जाका अनुभव किया। उन्हें लगा कि जब यूरोपके किसी देशमें अंग्रेजी भाषा विशेष समादृत नहीं होती, तो अपने ही देश भारतबर्षमें इसे इतना महत्त्व क्यों दिया जाता है ? जैसे किसी दूसरेकी माता अपनी माता नहीं हो सकती, वैसे ही दूसरे राष्ट्रकी भाषा भी अपने देशकी मातृभाषा नहीं हो सकती।

(अखण्ड आनन्द)

मनन करने योग्य

अपूर्व आत्मसमर्पण

दक्षिण भारतके एक छोटे-से गाँवकी एक छोटी-सी कोठरीमें रेड़ीके तेलका दीपक जल रहा है। कोठरीका कच्चा आँगन और मिट्टीकी दीवालें गोबरसे लिपी-पुती बड़ी स्वच्छ और सुन्दर दिखायी दे रही हैं। एक कोनेमें कुछ मिट्टी पड़ी है, एक ओर पानीका घड़ा रखा है, दूसरे कोनेमें एक चक्की, मिट्टीके कुछ बरतन और छोटी-सी एक चारपाई पड़ी है। दीपकके समीप कुशके आसनपर एक पण्डितजी बैठे हैं, पास ही मिट्टीकी दावात रखी है और हाथमें कलम लिये वे कुछ लिख रहे हैं। आसपास कुछ पुस्तकें पड़ी हैं, कुछ ही दूरपर पोथियाँ बाँधनेके बेठन पड़े हैं। पण्डितजी बड़ी एकाग्रतासे लिख रहे हैं। बीच-बीचमें पास रखी पोथियोंके पन्ने उलट-पलटकर पढ़ते हैं, फिर पन्ने रखकर आँखें मूँद लेते हैं। कुछ देर गहरा विचार करनेके पश्चात् पुनः आँखें खोलकर लिखने लगते हैं। इतनेमें दीपकका तेल बहुत कम हो जानेके कारण बत्तीपर गुल आ गया और प्रकाश मन्द पड़ गया। इसी बीच एक प्रौढा स्त्रीने आकर दीपकमें तेल भर दिया और वह बत्तीसे गुल झाड़ने लगी। ऐसा करते दीपक बुझ गया। पण्डितजीका हाथ अँधेरेमें रुक गया। स्त्री बत्ती जलाकर तुरंत वहाँसे लौट रही थी कि पण्डितजीकी दृष्टि उधर चली गयी। उन्होंने कौतूहलमें भरकर पूछा—'देवि! आप कौन हैं?' 'आप अपना काम कीजिये। दीपक बुझनेसे आपके काममें विघ्न हुआ, इसके लिये क्षमा कीजिये'—स्त्रीने जाते-जाते बड़ी ही नम्रतासे कहा। 'परंतु ठहरो, बताओ तो आप कौन हैं? और यहाँ क्यों आयी हैं?' पण्डितजीने बल देकर पूछा। स्त्रीने कहा—'महाराज! आपके काममें विघ्न पड़ रहा है, इस विक्षेपके लिये मैं बड़ी अपराधिनी हूँ।'

अब तो पण्डितजीने पन्ने नीचे रख दिये, कलम भी रख दी, मानो उन्हें जीवनका कोई नया तत्त्व प्राप्त हुआ हो। वे बड़ी आतुरतासे बोले—'नहीं, नहीं, आप अपना परिचय दीजिये, जबतक परिचय नहीं देंगी, मैं पन्ना हाथमें नहीं लूँगा।' स्त्री सकुचायी, उसके नेत्र नीचे हो गये और बड़ी ही विनयके साथ उसने कहा—'प्राणनाथ! मैं आपकी परिणीता पत्नी हूँ, मुझे 'आप' कहकर मुझपर पाप न चढ़ाइये।' पण्डितजी आश्चर्यचकित होकर बोले—'हैं, मेरी पत्नी? विवाह कब हुआ था?' स्त्रीने कहा—'लगभग पचास साल हुए होंगे, तबसे दासी आपके चरणोंमें ही है।'

पण्डितजी—तुम इतने वर्षोंसे मेरे साथ रहती हो, मुझे आजतक इसका पता कैसे नहीं लगा?

स्त्री—प्राणनाथ! आपने विवाहमण्डपमें दाहिने हाथसे मेरा दाहिना हाथ पकड़ा था और आपके बायें हाथमें ये पन्ने थे। विवाह हो गया, पर आप इन पन्नोंमें संलग्न रहे। तबसे आप और आपके ये पन्ने नित्य संगी बने हुए हैं।

पण्डितजी—पचास वर्षका लंबा समय तुमने कैसे बिताया—मैं तुम्हारा पति हूँ, यह बात तो तुमने इससे पहले मुझको क्यों नहीं बतलायी?

स्त्री—प्राणेश्वर! आप दिन-रात अपने काममें लगे रहते थे और मैं अपने काममें। मुझे बड़ा सुख मिलता था इसीमें कि आपका कार्य निर्विघ्न चल रहा है। आज दीपक बुझनेसे विघ्न हो गया! इसीसे यह प्रसङ्ग आ गया।

पण्डितजी—तुम प्रतिदिन क्या करती रहती थी?

स्त्री—नाथ! और क्या करती, जहाँतक बनता, स्वामीके कार्यको निर्विघ्न रखनेका प्रयत्न करती। प्रातःकाल आपके जागनेसे पहले उठकर धीरे-धीरे चक्की चलाती। आप उठते तब आपके शौच-स्नानके लिये जल दे देती। तदनन्तर संध्या आदिकी व्यवस्था करती, फिर भोजनका प्रबन्ध होता। रातको पढ़ते-पढ़ते आप सो जाते, तब मैं पोथियाँ बाँधकर ठिकाने रखती और आपके सिरहाने एक तकिया लगा देती एवं आपके चरण दबाते-दबाते वहीं चरणप्रान्तमें सो जाती।

पण्डितजी—मैंने तो तुमको कभी नहीं देखा।

स्त्री—देखना अकेली आँखोंसे थोड़े ही होता है, उसके लिये तो मन चाहिये। दृष्टिके साथ मन न हो तो फिर ये चक्षुगोलक कैसे किसको देख सकते हैं। चीज सामने रहती है, पर दिखायी नहीं देती। आपका मन तो नित्य-निरन्तर तल्लीन रहता है अध्ययन, विचार और लेखनमें। फिर आप

मुझे कैसे देखते ?

पण्डितजी—अच्छा, तो हमलोगोंके खान-पानकी व्यवस्था कैसे होती है ?

स्त्री—दुपहरको अवकाशके समय अड़ोस-पड़ोसकी लड़कियोंको बेल-बूटे निकालना तथा गाना सिखा आती हूँ और वे सब अपने-अपने घरोंसे चावल, दाल, गेहूँ आदि ला देती हैं, उसीसे निर्वाह होता है।

यह सुनकर पण्डितजीका हृदय भर आया, वे उठकर खड़े हो गये और गद्गद कण्ठसे बोले—'तुम्हारा नाम क्या है देवी !' स्त्रीने कहा—'भामती।' 'भामती ! भामती ! मुझे क्षमा करो, पचास-पचास सालतक चुपचाप सेवा-ग्रहण करनेवाले और सेविकाकी ओर आँख उठाकर देखनेतककी शिष्टता न करनेवाले इस पापीपर क्षमा करो' यों कहते हुए पण्डितजी भामतीके चरणोंपर गिरने लगे।

भामतीने पीछे हटकर नम्रतासे कहा—'देव ! आप इस प्रकार बोलकर मुझे पापग्रस्त न कीजिये। आपने मेरी ओर दृष्टि डाली होती, तो आज मैं मनुष्य न रहकर विषयविमुग्ध पशु बन गयी होती। आपने मुझे पशु बननेसे बचाकर मनुष्य ही रहने दिया, यह तो आपका अनुग्रह है। नाथ ! आपका सारा जीवन शास्त्रके अध्ययन और लेखनमें बीता है। मुझे उसमें आपके अनुग्रहसे जो यत्किञ्चित् सेवा करनेका सुअवसर मिला है, यह तो मेरा महान् भाग्य है। किसी दूसरे घरमें विवाह हुआ होता तो मैं संसारके प्रपञ्चमें कितना फँस जाती। और पता नहीं शूकर-कूकरकी भाँति कितनी वंश-वृद्धि होती। आपकी तपश्चर्यासे मैं भी पवित्र बन गयी। यह सब आपका ही प्रताप और प्रसाद है। अब आप कृपापूर्वक अपने अध्ययन-लेखनमें लगिये। मुझे सदाके लिये भूल जाइये।' यों कहकर वह जाने लगी।

पण्डितजी—भामती ! भामती ! तनिक रुक जाओ, मेरी बात तो सुनो।

भामती—नाथ ! आप अपनी जीवनसंगिनी साधनाका विस्मरण करके क्यों मोहके गर्तमें गिरते हैं और मुझको भी क्यों इस पाप-पङ्कमें फँसाते हैं ?

पण्डितजी—भामती ! मैं तुझे पाप-पङ्कमें नहीं फँसाना चाहता। मैं तो अपने लिये सोच रहा हूँ कि मैं पाप-गर्तमें गिरा हूँ या किसी ऊँचाईपर स्थित हूँ।

भामती—नाथ ! आप तो देवता हैं, आप जो कुछ लिखेंगे, उससे जगत्का उद्धार होगा।

पण्डितजी—'भामती ! तुम सच मानो ! भगवान् व्यासने वर्षों तप करनेके बाद इस (ब्रह्मसूत्र) ग्रन्थकी रचना की और मैंने जीवनभर इसका पठन एवं मनन किया, परंतु तुम विश्वास करो कि मेरा यह समस्त पठन-मनन, मेरा समग्र विवेक, यह सारा वेदान्त तुम्हारे पवित्र सहज तपोमय जीवनकी तुलनामें सर्वथा नगण्य है। व्यास भगवान्ने ग्रन्थ लिखा, मैंने पठन-मनन किया, परंतु तुम तो मूर्तिमान् वेदान्त हो।' यों कहते-कहते पण्डितजी पुनः उसके चरणोंपर गिरने लगे। भामतीने उन्हें उठाकर विनम्रभावसे कहा—'पतिदेव ! यह क्या कर रहे हैं ? मैंने तो अपने जीवनमें आपकी सेवाके अतिरिक्त कभी कुछ चाहा नहीं। आपने मुझ- जैसीको ऐसी सेवाका सुअवसर दिया। यह आपका मुझपर महान् उपकार है। आजतक मैं प्रतिदिन आपके चरणोंमें सुखसे सोकर नींद लेती रही हूँ, यों इन चरणोंमें ही सोती-सोती महानिद्रामें पहुँच जाऊँ, तो मेरा महद्भाग्य हो।'

पण्डितजी—भामतीदेवी ! सुनो, मैंने अपना सारा जीवन इन पन्नोंके लिखनेमें ही बिता दिया। परंतु तुमने मेरे पीछे जैसा जीवन बिताया है, उसके सामने मुझे अपना जीवन अत्यन्त क्षुद्र और नगण्य प्रतीत हो रहा है। मुझे इस ग्रन्थके एक-एक पन्नेमें, एक-एक पंक्तिमें और अक्षर-अक्षरमें तुम्हारा जीवन दीख रहा है, अतः जगत्में यह ग्रन्थ अब तुम्हारे ही नामसे प्रसिद्ध होगा। तुमने मेरे लिये जो अपूर्व त्याग किया, उसकी चिरस्मृतिके लिये मेरा यह अनुरोध स्वीकार करो। 'प्रभो ! आप ऐसा कीजिये, जिसमें इस अतुलनीय आत्मत्यागके सामने मुझ-जैसे क्षुद्र मनुष्यको जगत् भूल जाय। 'आप अपने काममें लगिये देव !' यों कहकर भामती जाने लगी। तब 'तुमको जहाँ जाना हो, जाओ। परंतु अब मैं जीवित मूर्तिमान् वेदान्तको छोड़कर वेदान्तके मृत शवका स्पर्श नहीं करना चाहता'—यों कहकर पण्डितजीने पोथी-पन्ने बाँध दिये।

पण्डितजीके द्वारा रचित महान् ग्रन्थ आज भी वेदान्तका एक अप्रतिम रत्न माना जाता है। इस ग्रन्थका नाम है—'भामती' और इसके लेखक हैं—पण्डित वाचस्पति मिश्र।

(श्रीयुत एस० एम० बोरा)

ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी आत्मबोध करानेवाली सस्ती, सरल तथा उपयोगी अमूल्य पुस्तकें पढ़िये !

तत्त्व-चिन्तामणि भाग-१—आजके इस भौतिकवादी नितान्त अशान्त युगमें सच्चे जिज्ञासुओं और साधकोंके लिये भगवद्भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, निष्काम-कर्मयोग, सदाचार और सद्विचारसम्बन्धी प्रेरणादायी लेखोंका यह संकलन सर्वथा पठनीय तथा स्वाध्यायोपयोगी है। पृष्ठ-संख्या ३५२, रंगीन चित्र १, मूल्य २.०० मात्र।

तत्त्व-चिन्तामणि भाग-२—मनीषी लेखकके अनुभवगम्य अध्यात्मभावोंसे युक्त स्वकर्तव्य-बोध करानेवाले निबन्धोंका यह अनूठा संग्रह है। पृष्ठ-संख्या ५९१, रंगीन चित्र १, मूल्य ३.०० मात्र।

तत्त्व-चिन्तामणि भाग-३—आसुरी-सम्पदाके इस विस्तारवादी वातावरणमें दैवीसम्पदाको बढ़ानेवाले, सदाचार और सद्विचारोंकी ओर प्रवृत्त कर भगवद्विश्वासकी वृद्धि और भगवत्तत्त्वका सहज ज्ञान करानेवाले, सरल भाषामें लिखे हुए शास्त्रसम्मत और अनुभवयुक्त विचारोंसे पूर्ण लेखोंका यह संग्रह अत्यन्त उपयोगी है। पृष्ठ-संख्या ४२३, रंगीन चित्र १, मूल्य ३.५० मात्र।

तत्त्व-चिन्तामणि भाग-४—'तत्त्व-चिन्तामणि' के इस चौथे भागमें गम्भीर तत्त्वोंपर विचार करनेके साथ ही भगवत्तत्त्व, रहस्य, स्वरूप और गुणका बड़ा ही सुन्दर विवेचन है। पृष्ठ-संख्या ५२८, रंगीन चित्र १, मूल्य ४.०० मात्र।

तत्त्व-चिन्तामणि भाग-५—इसमें लेखक महानुभावने अध्यात्म-चिन्तनका सार अनुभव-सिद्ध तत्त्वोंके आधारपर प्रस्तुत किया है। साथ ही आदर्श सद्गुणोंका विवेचन भी है। पृष्ठ-संख्या ४९६, रंगीन चित्र १, मूल्य ३.५० मात्र।

तत्त्व-चिन्तामणि भाग-६—'तत्त्व-चिन्तामणि' के इस छठे भागमें अधिकारी लेखकने हमारे देशके चुने हुए कुछ आदर्श पूर्व महापुरुषों एवं सन्नारियोंके अनुकरणीय चरित्र-चित्रणके साथ, भगवान्‌के स्वरूप-तत्त्व एवं साधन-भजन-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रेरक सामग्रीका संयोजन किया है। पृष्ठ-संख्या ४५६, रंगीन चित्र १, मूल्य ३.०० मात्र।

तत्त्व-चिन्तामणि भाग-७—'तत्त्व-चिन्तामणि'के इस सातवें तथा अन्तिम भागके विविध लेखोंमें शास्त्रोक्त धर्माचरण, भगवद्भक्ति, भगवान् श्रीराम, श्रीभरत, श्रीलक्ष्मण तथा श्रीहनुमान्‌जीके आदर्श चरित्र-वर्णनके साथ ही परमात्माकी प्राप्तिके उपाय, भारतीय संस्कृतिके अनुसार आदर्श नारी-धर्म, गो-महिमा तथा गो-रक्षाकी आवश्यकता इत्यादि अनेक परमोपयोगी विषयोंका संग्रह है। पृष्ठ-संख्या ५२०, रंगीन चित्र १, मूल्य ४.०० मात्र।

उपर्युक्त 'तत्त्व-चिन्तामणि'के इन सातों भागोंकी विषय-सामग्री एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न एवं स्वतन्त्र है। सभी जिज्ञासुओं तथा परमार्थ-प्रेमी साधकोंको इसके सभी भागोंको मँगाकर उनके चिन्तन-मननसे अधिकाधिक लाभ उठाना चाहिये। सम्पूर्ण सेटका मूल्य २३.०० तथा डाक-व्यय १२.०० अतिरिक्त है।

परमार्थ-पत्रावली भाग-१—इसमें ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीगोयन्दकाजीके अध्यात्म तथा व्यवहारविषयक कुछ चुने हुए पत्रोंका संग्रह है, जो उन्होंने समय-समयपर अपने सम्बन्धियों, मित्रों तथा सत्संगियोंको लिखे हैं। परमार्थ तथा व्यवहार दोनों प्रकारके लाभके लिये इनका पठन-मनन उपयोगी तथा प्रेरणादायी है। पृष्ठ-संख्या ११२, रंगीन चित्र १, मूल्य ०.५० पैसा मात्र।

परमार्थ-पत्रावली भाग-२—इसमें ८० पत्रोंका संकलन है। जिज्ञासुओंमें परमार्थ-प्रेम, सत्संग-विषयक अभिरुचि तथा भगवत्प्रेमकी आन्तरिक जिज्ञासा जगाने एवं पूर्तिमें इनका अध्ययन विशेष सहायक है। पृष्ठ-संख्या १७१, रंगीन चित्र १, मूल्य १.०० मात्र।

परमार्थ-पत्रावली भाग-३—इस भागमें कर्तव्य-विचार, नाम-जप, वैराग्य और चेतावनी, भगवान्‌की प्राप्तिका उपाय, शास्त्राभ्यासके लिये प्रेरणा, लोभका त्याग, भगवत्कृपाका आश्रय तथा विद्यार्थियोंके लिये उपयोगी शिक्षाएँ इत्यादि विषयोंपर ७२ प्रेरक पत्र हैं। पृष्ठ-संख्या १९२, रंगीन चित्र १, मूल्य १.२५ मात्र।

परमार्थ-पत्रावली भाग-४—इस पत्र-संग्रहमें आध्यात्मिक तथा धार्मिक विषयोंके अतिरिक्त व्यापार-सुधार एवं समाज-सुधारविषयक भी कई पत्र हैं। कुल पत्र-संख्या ९१ है। इस पठनीय सामग्रीमें भजन, ध्यान, सेवा, सत्सङ्ग स्वाध्याय, सदाचार, संयमका महत्त्व तथा दुर्गुण-दुराचारके त्याग और सद्गुण-सदाचारके सेवनपर विशेष बल दिया गया है। पृष्ठ संख्या २०३, रंगीन चित्र १, मूल्य १.२५ मात्र। सम्पूर्ण सेट (चारों भागों)का मूल्य ४.०० (चार रुपये) तथा डाक-खर्च ७.०० (सात रुपये) अतिरिक्त है।

—व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर

'कल्याण'के पूर्ववर्ती प्राप्य चार विशेषाङ्क

'कल्याण'के विगत ६२ वर्षोंमें अबतक प्रकाशित कुल बासठ विशिष्ट एवं दुर्लभ विशेषाङ्कोंमेंसे इस समय निम्नलिखित मात्र चार विशेषाङ्क ही प्राप्य हैं। उनकी भी अब कुछ प्रतियाँ ही शेष बच रही हैं। अतः इच्छुक सज्जनोंको तदर्थ मूल्य (मनीआर्डरद्वारा) अग्रिम भेजकर मँगवानेमें शीघ्रता करनी चाहिये, अन्यथा 'कल्याण'के पिछले अन्य विशेषाङ्कोंकी तरह इनके भी शीघ्र बिक जानेपर प्रेमी पाठकोंको निराश होना पड़ सकता है।

१—चरित्र-निर्माणाङ्क

आजके सर्वत्र उच्छृङ्खलता, यथेच्छाचारिता, मर्यादाहीनता, दुराचार, भ्रष्टाचार एवं अत्याचारसे पीड़ित इस युगमें चारित्र्य-शिक्षा, चारित्र्य-रक्षा, चारित्र्य-गठन और चारित्र्योत्थान—इनकी नितान्त आवश्यकता है। इस दृष्टिसे इस अङ्ककी उपयोगिता सार्वकालिक और असंदिग्ध है। ऐसे सर्वजनोपयोगी, नित्य पठनीय, मननीय और जीवनको उच्चता प्रदान करनेवाले इस अङ्कके लिये कृपया आज ही मनीआर्डरद्वारा मूल्य २४.०० (चौबीस रुपये) मात्र भेजकर स्वयं मँगायें एवं अपने इष्ट मित्रोंको भी समय रहते इसे (समाप्त होनेके पूर्व ही) शीघ्र प्राप्त कर लेनेके लिये प्रेरित करें।

२-मत्स्यपुराणाङ्क (पूर्वार्ध) सानुवाद

इस अङ्कमें अनेक महान् साधन, उपदेश और आदर्श चरित्र भरे हैं, जिनसे मनुष्य सहज ही अपने अभ्युदय तथा निःश्रेयस पथको प्राप्त कर सकता है। सर्वप्रथम मत्स्यावतारकी कथा है, फिर मनु महाराजका मत्स्य भगवान्‌से संवाद आया है। इसमें सृष्टिकी उत्पत्ति, पृथ्वीदोहन, सूर्यवंश, पितृवंशवर्णन, विविध श्राद्धोंका वर्णन, चन्द्रवंशके राजाओंका वर्णन, श्रीकृष्णचरित्र, ययाति-चरित्र एवं इनके अन्य पुत्रोंका वर्णन, विविध व्रत, दान, ग्रहशान्ति तथा तीर्थोंका माहात्म्य बतलाया गया है। इसके अन्तर्गत तीर्थराज प्रयागके माहात्म्यका विस्तारसे वर्णन मिलता है तथा त्रिपुरवध एवं तारकवधकी कथा भी विस्तारसे कही गयी है। रंगीन चित्रोंसे सुसज्जित इस अङ्कका मूल्य २४.०० (चौबीस रुपये) मात्र है।

३—मत्स्यपुराणाङ्क (उत्तरार्ध) सानुवाद

इस अङ्कमें भगवान् विष्णुके दशावतारवृत्त, शिव-चरित्र तथा उनका विवाह-मङ्गल, गो-महिमा, राजधर्म, देवासुर-संग्राम आदिकी ललित कथाएँ वर्णित हैं। इसके अतिरिक्त पतिव्रता-माहात्म्य, भगवद्भक्ति, ज्ञानयोग, सदाचार और लीलामय भगवानके पवित्र चरित्रोंका बड़ा ही रोचक, मनोहर, गम्भीर और मार्मिक वर्णन इस पवित्र पुराणमें आया है। रंगीन चित्रोंसे सुसज्जित इस अङ्कका मूल्य २४.०० (चौबीस रुपये) मात्र है।

४—'शिक्षाङ्क' सजिल्द

इस अङ्कमें शिक्षासे सम्बन्धित तात्त्विक निबन्धोंके साथ-साथ अनादि-कालसे प्रचलित भारतकी विभिन्न शिक्षा-पद्धतियाँ, वर्तमान समयमें शिक्षाके वास्तविक स्वरूपका निर्धारण, महान् शिक्षाविदोंके चरित्र-चित्रण तथा शिक्षानीति आदि महत्त्वपूर्ण और सर्वजनोपयोगी विषयोंपर सरल, सुगम और सारगर्भित वर्णन हैं। प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन है कि इस संग्रहणीय और पठनीय विशेषाङ्कका मूल्य भेजकर इसे मँगानेमें शीघ्रता करें। इसकी बहुत थोड़ी प्रतियाँ ही शेष रह गयी हैं। बहुरंगे चित्रोंसे सुसज्जित इस अङ्कका मूल्य ४२.०० (बयालीस रुपये) मात्र है।

व्यवस्थापक—'कल्याण'—कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस,
गोरखपुर, पिन-२७३००५

'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क 'देवताङ्क'

आगामी ६४वें वर्ष (वि॰ सं॰ २०४७) में 'कल्याण'का विशेषाङ्क 'देवताङ्क' प्रकाशित करनेका प्रयत्न किया जा रहा है। इसमें विभिन्न देवताओंकी रोचक कथाएँ, उनके चरित्र, अवतार, उद्भव और तात्त्विक रहस्योंके परिचय दिये जा रहे हैं। इसके साथ ही विभिन्न प्रदेशोंके स्थानीय अधिष्ठातृदेवों (स्थान-देवता, ग्राम-देवता, लोक-देवता तथा-कुल-देवता) का परिचय तथा इसी प्रकार लोकशक्ति और ग्राम्यशक्ति आदि देवियोंका भी परिचय देनेका विचार है। अतः स्थानीय स्तरपर जो महानुभाव उक्त देवोंका परिचय और विवरण भेजना चाहें, वे उन्हें भेज सकते हैं। यथासम्भव उन्हें 'कल्याण'में प्रकाशित करनेका प्रयास किया जायगा।—'सम्पादक'